

गांधी-मार्ग

गांधीजी □ जयप्रकाश नारायण
तारा धर्माधिकारी □ इला भट्ट □ मिलिंद बोकील
सुसान फ्रिंकल

मेंढा गांव की गल्ली सरकार

मई-जून 2013

सृजन स्मरण



मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिए
दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ
कहीं मिलता और कहीं लड़ता हुआ
अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है ।
जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता
रहता है उसका नाम है जगत् ।

रामचंद्र शुक्ल

(1884-1940)



सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 55, अंक 3, मई-जून 2013

गांधी शांति प्रतिष्ठान



1. संसार के हाथ बिक जाना	गांधीजी	3
2. महाजन के घर में जन्मी एक मजदूर आत्मा	इला भट्ट	6
3. हे भगवान प्लास्टिक	सुसान फ्रिंकल	17
4. मेंढा गांव की गल्ली सरकार	मिलिंद बोकील	22
5. जड़ें	अनुपम मिश्र	41
6. पुराना चावल :		
यह अपराध नहीं कर्तव्य है	जयप्रकाश नारायण	45
7. पोथी पढ़ि पढ़ि :		
सात उंगलियों से काम करो	तारा धर्माधिकारी	49
8. टिप्पणियां		59
9. पत्र		62

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

संसार के हाथ बिक जाना

गांधीजी

मैं रेल में बैठा था। मद्रास से लौट रहा था और थका हुआ था। बहुत-सा लिखने का काम पड़ा हुआ था; उसे पूरा कर रहा था। इतने में गाड़ी एक स्टेशन पर खड़ी हुई। एक विद्यार्थी इजाजत लेकर डिब्बे में आया; उसने अपनी पढ़ाई हाल ही में खत्म की थी। उसने अंदर आकर मुझसे पूछा:

आप वाइकोम से आ रहे हैं?

‘हां।

वाइकोम में क्या हुआ?

मुझे यह सवाल ठीक नहीं लगा; अतः मैंने पूछा, आप कहां रहते हैं?

मैं मलाबार का हूँ।

उसके हाथ में दो अखबार थे। मैंने पूछा, आप अखबार पढ़ते हैं?

मुझे सफर करना पड़ता है। कैसे पढ़ सकता हूँ?

आपके हाथ में ‘हिन्दू’ जो है, उसमें वाइकोम के समाचार मिलेंगे।

परंतु मैं तो आपसे जानना चाहता हूँ।

आपकी तरह यदि सब लोग मुझसे पूछें और सभी को जवाब देना पड़े तो मेरे पास दूसरे काम करने के लिए समय ही न बचेगा। क्या आपने इस बात पर विचार किया है?

पर आप मुझे तो वहां का हाल बता ही सकते हैं।

आप 'यंग इंडिया' पढ़ते हैं?

नहीं, मुझे इसे पढ़ने का समय ही नहीं मिलता। मैं 'टाइम्स' पढ़ता हूँ, क्योंकि मुझे वह मिल जाता है।

तब मैं आपको अपना समय नहीं दे सकता। आप न 'हिन्दू' पढ़ते हैं और न 'यंग इंडिया'। तब भला मैं दस मिनट में अचानक हुई इस भेंट में आपको क्या हाल बताऊँ? आप मुझे माफ करें।

तब क्या आप मुझे नहीं बताएंगे?

मुझे माफ करें। आप खादी भी नहीं पहनते; और मुझे व्यर्थ परेशान करते हैं।

परंतु मुझे हाल बताना आपका कर्तव्य है।

खादी पहनना आपका कर्तव्य है।

मेरे पास रुपया नहीं है।

आप तो सोने के बटन पहने हुए हैं। इन्हें मुझे दे दें, मैं आपके लिए खादी की व्यवस्था कर दूंगा।

बटन तो मैं शौकिया पहनता हूँ। उन्हें मैं क्यों दे दूँ?

तब आप मुझे माफ करें।

अच्छा यदि मैं खादी न पहनूँ तो आप मुझे हाल नहीं बताएंगे?

आप खुशी से ऐसा मान लें, पर आप मेरा पीछा छोड़ें।

आप यही क्यों नहीं कहते कि आप मुझे नहीं बताना चाहते।

अच्छा ऐसा ही सही।

पर आपके इस व्यवहार को मैं अखबारों में प्रकाशित करूंगा।

खुशी से करें, पर अब आप मुझे अपना काम करने दें।

खुशी से जितना होता है, मैं उतना करता हूँ। मैंने मलाबार कोष के लिए कोई सौ-एक रुपए भी एकत्र किए थे।

क्या फिर भी आपका जी गरीब लोगों की बुनी खादी पहनने के लिए नहीं होता?

क्या यह मुझे ज्ञात नहीं है कि जब वहां लोग भूखों मर रहे हैं तब आपको कातने की सूझी है?

यह चर्चा हमें यहां नहीं छेड़नी चाहिए।
तब मैं जाऊं?
हां जरूर। अब तो जाएं।

मुझे अंदेशा है कि मैं इस भाई को यह नहीं समझा सका कि जिस बात को वह आसानी से अखबारों में पढ़ सकता है, उसे जानने के लिए मुझे सवाल पूछकर उसे मेरा अर्थात् देश का समय नहीं लेना चाहिए।

उसके जाने के बाद मेरे मन में विचार आया कि यदि मैंने उसके साथ गंभीरता से पेश आने के बजाय विनोद से काम लिया होता तो मैं उसे खुश कर सकता था। हां, मेरा वक्त जरूर कुछ ज्यादा जाया होता।

मुझे लगता है कि अपनी गंभीरता तथा उससे उत्पन्न हुई कठोरता के कारण मैंने एक सेवक गंवा दिया। अहिंसा धर्म कितना कठिन है? हम चाहे कितने ही व्यस्त हों, फिर भी हमें सावधान रहना चाहिए। हमें प्रतिक्षण अपनी बातें सुनने वाले या देखने वाले के हृदय में प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिए। अहिंसा धर्म के पालन के लिए समय और सुविधा का क्या प्रश्न? सुविधा हो या न हो, समय हो या न हो, अहिंसावादी तो दास है, सेवक है और सेवा के लिए तो वह संसार के हाथ बिक चुका होता है। मैंने अपना समय बचाया, अपनी सुविधा का ख्याल किया, शिक्षक बनने का प्रयत्न किया और शिक्षा देते हुए शिष्य को खो दिया। मैं कैसा शिक्षक हूं? विवेकहीन मनुष्य पशु के बराबर है। तुलसीदास तथा सब संतों का यही मत है।

जिसका मैं शिक्षक बनने गया, वह मेरा शिक्षक बना। इस घटना ने मुझे सावधान बना दिया।

गांधीजी 25 मार्च, सन् 1925 को मद्रास से बंबई जा रहे थे। यह बातचीत गुंटकल स्टेशन पर हुई थी।

संपूर्ण गांधी वांगमय के छब्बीसवें खंड से साभार।



महाजन के घर में एक मजदूर आत्मा

इला भट्ट

सब उन्हें मोटाबेन यानी बड़ी दीदी कहते थे। मोटाबेन से मैं सबसे पहले सन् 1955 में मिली थी। 'मजूर महाजन संघ' में एक वकील के नाते नया-नया काम मैंने शुरू किया था। 'महाजन' के कार्यकर्ताओं में मैं अकेली स्त्री थी।

उन दिनों अहमदाबाद में स्त्रियां सिर पर पल्ला रखती थीं। यह रिवाज था। ऐसी ही अपेक्षा 'महाजन' को मुझसे भी थी। लेकिन मेरा लालन-पालन वैसा नहीं हुआ था। मैं सूरत में बड़ी हुई थी और वहां ऐसा कोई रिवाज नहीं था। उल्टे मैं तो बालों में फूल भी लगाती थी। इसके लिए मुझे दो एक बार टोका भी गया था। मैं शांति से वह सब सुन लेती थी लेकिन सिर नहीं ढंकती थी। मोटाबेन के पास मेरी शिकायत तो गई ही होगी। लेकिन उन्होंने मुझसे इस बारे में कभी कुछ नहीं कहा। मेरे मन को तभी समझ में आया कि मैं जैसी हूं, वैसी ही उन्हें मान्य हूं।

उन दिनों महाजन के इंस्पेक्टरों को मिलों वाले इलाके में जाने के लिए मोटर साईकिल दी जाती थी। मैं कानूनी अधिकारी थी, मुझे भी अक्सर इन मिलों में जाना पड़ता था। इसलिए इंस्पेक्टर भाईयों की तरह मुझे भी स्कूटर दिलाया गया। अब तो पूरी तरह मेरी बदनामी हो गई। युवा, स्त्री, अविवाहित और ऊपर से खुले सिर!! मजदूरों के इलाकों में स्कूटर लेकर घूमती है! लेकिन इसके पीछे मोटाबेन, यानी अनसूया बहन की सस्मित, कुछ मन ही मन मुस्कुराती सहमति का अहसास मुझे बराबर होता रहता था।

फिर मेरी शादी हुई। दो बच्चे हुए। उस दौरान मैं 'महाजन' में काम पर नहीं थी। दोबारा जब जुड़ी तब अनसूयाबेन का महाजन के कार्यालय में नियमित आना कम हो गया था। कभी-कभी आती थीं, हालांकि उनका महाजन के साथ का संबंध बहुत सक्रिय रहता था। कुछ ऐसा संयोग बना कि मुझे सन् 1972 में 'टवारो' यानी टैक्सटाईल वर्कर्स एशियन रिजनल ऑर्गेनिजेशन की ओर से एक प्रशिक्षण के लिए टोक्यो जाने का निमंत्रण आया। 'महाजन' की परंपरा के

मुताबिक समुद्र पार के लंबे सफर पर जाने से पहले अनसूयाबेन से आशीर्वाद लेने जाना होता था। उस मुताबिक मैं शाहीबाग उनके बंगले पर गई।

मिर्जापुर का शांति सदन का बंगला सन् 1947 में छोड़ने के बाद वे शाहीबाग के 'रिट्रीट' बंगले में रहती थीं। वहां मैं उनसे मिली तब वे कुछ कमजोर लग रही थीं। बड़े भारी पलंग पर पैर लंबे करके वे बैठी थीं। पलंग के पीछे सिगड़ी पर पक रही नानखटाई की सुगंध स्वागत योग्य थी। उन्होंने मुझसे तालीम के ब्यौरे आदि पूछे और पूछा कि मेरी अनुपस्थिति में मेरे बच्चों को कौन देखेगा।

मुझे आशीर्वाद दिया और कहा कि 'खुशी से जाओ, अपना गौरव बढ़ाना।' उनकी अनुमति लेकर मैं अभी बाहर निकली ही थी कि उन्होंने मुझे फिर से बुलाया और कहा कि तुम टोक्यो जा रही हो तो वहां से एक चीज ला सकोगी। पैस्टल कलर का एक बॉक्स। 'जरूर' कहकर मैंने मोटाबेन से फिर बिदा ली।

टोक्यो आए हुए अभी तीन दिन ही हुए थे। मेरी तालीम कक्षा चल रही थी। तभी आकर तकिता-सान ने मेरे कान में अनसूया बहन की चिरविदा के दुखद समाचार दिए। उनके सम्मान में कक्षा ने एक मिनट का मौन रखा। उस शाम को 'टावरी' ने मुझे टोक्यो रेडियो पर अनसूया बहन की शोकांजलि के दो शब्द बोलने को कहा। 'मजूर आलम में सबका सम्मान' उनका हमेशा का संदेश रहा है, उसी को मैंने दोहरा दिया था वहां।

इस देश के मजदूर आंदोलन में अनसूया बहन का अनन्य योगदान होने के बावजूद मजदूर इतिहास में तथा महिला इतिहास में— दोनों में उनकी उपेक्षा हुई है। यह बात मुझे हमेशा सताती रही है। उनके नेतृत्व का तरीका बहुत विशिष्ट था। उन्हें किसी झरोखे में बिठा देना तो आसान नहीं है। और शायद इसीलिए इतिहास को भी समझ में नहीं आया होगा कि उन्हें मजदूर आंदोलन में कहां स्थान दिया जाए?

अनसूया बहन की लोगों में ख्याति इसलिए फैली कि उन्होंने अहमदाबाद की सूती कपड़ा मिलों के मजदूरों की हड़ताल का नेतृत्व किया। महात्मा गांधी ने उनका साथ दिया। और उसी के परिणामस्वरूप हमारे देश में एक बड़ी विचित्र, विलक्षण मजदूर यूनियन बन सकी— 'मजूर महाजन संघ' सन् 1920 में। याद

**अनसूया बहन मजदूर
परिवार से नहीं, साराभाई,
यानी मालिक परिवार से थीं।
मालिक परिवार, मिलों के स्वामी
परिवार से होकर भी उन्होंने
अपनी ही मिलों में काम कर रहे
मजदूरों का सौ प्रतिशत पक्ष
लिया और उनके हित में
काम करने के लिए अपना
जीवन न्योछावर किया।**

रखने के लिए अधिक महत्त्व की बात यह है कि अनसूया बहन मजदूर परिवार से नहीं, साराभाई, यानी मालिक परिवार से थीं। मालिक परिवार, मिलों के स्वामी परिवार से होकर भी उन्होंने अपनी ही मिलों में काम कर रहे मजदूरों का सौ

अनसूया बहन की विशिष्ट बात यह नहीं है कि उन्होंने एक बड़ी यूनियन बनाई। उनकी यह यूनियन किस प्रकार की थी, उसी में उसकी विशेषता निहित है। आमने-सामने आ जाने का रुझान न होने के बावजूद सक्रिय विरोध, दोनों पार्टियों के मध्यस्थ का आग्रह, मजदूर तथा उद्योग के संबंध में दूरदर्शी विचारधारा, असहमत होकर भी सहमत होने के संस्कार— ये तमाम मूल्य इस यूनियन में अनसूया बहन के जीवन तथा जीवन दृष्टि से उपजे थे।

प्रतिशत पक्ष लिया और उनके हित में काम करने के लिए अपना जीवन न्योछावर किया।

इसमें भी ज्यादा चौकाने लायक बात यह है कि वे गांधीजी के साथ से पहले भी एक हड़ताल को सफलतापूर्वक पार लगा चुकी थीं। मैं तो इतना तक कह सकती हूँ कि हकीकत में तो अनसूया बहन ने मजदूरों की सेवा करने के साथ-साथ इसका पाठ गांधीजी को सिखाया था कि असहमत होते हुए भी सहमत कैसे हुआ जा सकता है। गांधीजी ने देखा था अनसूया बहन के प्रति अहमदाबाद के मजदूरों के गहरे विश्वास को।

दूसरे अनसूया बहन की विशिष्ट बात यह नहीं है कि उन्होंने एक बड़ी यूनियन बनाई। उनकी यह यूनियन किस प्रकार की थी, उसी में उसकी विशेषता निहित है। आमने-सामने आ जाने का रुझान न होने के बावजूद सक्रिय विरोध, दोनों पार्टियों के मध्यस्थ का आग्रह, मजदूर तथा उद्योग के संबंध में

दूरदर्शी विचारधारा, असहमत होकर भी सहमत होने के संस्कार— ये तमाम मूल्य इस यूनियन में अनसूया बहन के जीवन तथा जीवन दृष्टि से उपजे थे। मजदूर और मालिक की हर लड़ाई के दौरान दोनों पक्षों को शांतिपूर्वक एक भूमिका पर लाकर बातचीत कराना इसकी विशेषता थी। यह 'हमारे खिलाफ तुम' 'तुम्हारे खिलाफ हम' वाली यूनियन नहीं थी।

गांधीजी, अनसूया बहन तथा अहमदाबाद की पहली हड़ताल के संबंध में काफी-कुछ लिखा गया है। लेकिन अनसूया बहन के निजी जीवन के बारे में बहुत कम जानते हैं। स्वभाव से वे अंतर्मुखी थीं। उनके बारे में जो भी थोड़ा बहुत मैंने जाना वह उनकी भतीजी यानी कि अंबालाल साराभाई की सुपुत्री गिराबहन साराभाई से जाना-समझा है। गिराबहन को साराभाई परिवार की जानकारी खूब गहरे ढंग से पता थी। उन्होंने अपनी बुआ के संस्मरणों को दर्ज किया था।

अनसूया बहन के हृदय को सबसे अधिक छूने वाली दो बातें थीं: स्त्रियां और मजदूर। लेकिन हमारे देश में इनमें से किसी का भी झंडा उठाना तब आसान नहीं था। फिर भी उनके भाई अंबालाल के प्रोत्साहन से मिल मजदूरों के बच्चों का एक स्कूल उन्होंने सन् 1914 में ही शुरू कर दिया था।

देश के इस मजदूर वर्ग की वास्तविकता का पहला परिचय सही माने में अनसूया बहन को तभी हो सका था। मजदूर बच्चे, स्त्रियां, मजदूर जीवन की समस्याएं, उनकी गरीबी का दैनंदिन संपर्क अनसूया बहन के लिए बुनियादी शिक्षा साबित हुआ होगा। अनसूया बहन का खुद का सामाजिक दर्जा एकदम अलग था। बड़े मिल मालिकों के साथ उनके संबंधों से अहमदाबाद का समाज और मजदूर अच्छे से परिचित थे। सब यह भी जानते थे कि अनसूया बहन मालिक परिवार से ही हैं। इसके बावजूद मजदूरों के मन में उनको लेकर कोई दहशत या अविश्वास जरा भी नहीं था। अपने जीवन की मुसीबतों की बातें वे अनसूया बहन को बताने लगे थे। जैसे कि कई घंटों की मजदूरी, एकदम निम्नस्तर की मजदूरी-दर, काम की भयानक स्थितियां तथा मजदूर इंस्पेक्टर और मिल मालिकों के बीच का घरोपा— अपनी इन तमाम पीड़ाओं को वे मजदूर अनसूया बहन के सामने खुले दिल से कहने लगे थे। ऐसी भयानक स्थितियां और भीतर उफनते गुस्से को अनसूया बहन ने अपने परिवार में, मालिक भाई के सामने उलीचा।

**कई घंटों की मजदूरी,
एकदम निम्नस्तर की
मजदूरी-दर, काम की भयानक
स्थितियां तथा मजदूर इंस्पेक्टर
और मिल मालिकों के बीच का
घरोपा— इन तमाम पीड़ाओं को
वे मजदूर अनसूया बहन के
सामने खुले दिल से कहने लगे
थे। ऐसी भयानक स्थितियां
और भीतर उफनते गुस्से को
अनसूया बहन ने अपने
परिवार में, मालिक भाई
के सामने उलीचा।**

सबसे पहला काम तो शुरू हो ही गया था: मजदूरों के लिए रात्रिशाला। फिर उनके लिए ऋणफंड शुरू किया। इस मामले में बिना एक भी सवाल पूछे, उनके भाई सहायता करते रहे। अनसूया बहन लगातार जागृत थीं कि मिल मालिक मजदूरों का शोषण कर रहे हैं। इन मिल मालिकों में से एक उनके अपने प्रिय भाई भी हैं। लेकिन भाई-बहन के बीच विश्वास की डोर मजबूत थी। इतनी मजबूत कि दोनों एक दूसरे की बात का सम्मान करते थे। फिर भले ही वे एक दूसरे से असहमत क्यों न हों।

सन् 1917 में अहमदाबाद में प्लेग फैल गया। मिल मजदूर शहर छोड़कर अपने-अपने गांव भगाने लगे। मजदूरों की तंगी बढ़ने लगी। काम पर, उत्पादन

पर बुरा असर पड़ा। तब शहर में ही रुके रहने के लिए गांव के मजदूरों को मालिक अतिरिक्त बोनस देने लगे। लेकिन ताने वाले मजदूर अधिकतर अहमदाबाद के ही निवासी थे। उन्हें ये बोनस नहीं दिया जाता था। वे सब गुस्से में अनसूया बहन के पास पहुंचे और एलिस पुल के नीचे नदी पर अपनी बड़ी बैठक में अनसूया बहन को बुला लाए।

अभी ठीक से पूरी बात भी समझ नहीं आई थी। फिर भी अनसूया बहन के मुंह से आगे की मांग निकल पड़ी: मजदूरी बढ़ाने की मांग करो और अड़तालिस घंटे में अगर मांग पूरी न हो तो हड़ताल। इस आशय का नोटिस लगा दिया जाए। अनसूया बहन के इर्द-गिर्द सब बैठ गए थे। फिर नोटिस लगा। मिल

मालिकों ने मजदूरों की मांग को उठाकर फेंक दिया।

**इस हड़ताल ने मजदूर
आलम में इतिहास रच दिया।
इस हड़ताल में अनसूया बहन
ने गांधीजी की सहायता मांगी।
इस बार की हड़ताल पिछली
हड़ताल से ज्यादा लंबी चली।
गांधीजी आए। उन्होंने शंकरलाल
बैंकर को बुलाया और उन्हें
मजदूरों की स्थिति का अध्ययन
करने का काम सौंपा ताकि
पता लगाया जा सके कि
मालिकों से कितनी अतिरिक्त
मांग करना वाजिब माना जाएगा।
गांधीजी का आग्रह था कि
मजदूरों को मालिकों के खिलाफ
आवाज तो उठानी है लेकिन
शांतिपूर्ण ढंग से।**

अड़तालिस घंटे पूरे हुए। मिल मजदूरों ने हड़ताल कर दी। उस समय अनसूया बहन के भाई अंबालाल मिल मालिक मंडल के प्रमुख थे। उन्होंने मजदूरों की हड़ताल के समाचार सुने। वे बहुत गुस्सा हो गए कि अनसूया बहन इसके परिणामों को अच्छे से समझे बिना ही नेतृत्व कर रही हैं। लेकिन भाई अपनी बहन को ठीक-ठीक जानते नहीं थे तब तक। अनसूया बहन तो अपने दिल में समझ चुकी थीं कि मजदूरों की मांग वाजिब है।

पहले हड़ताल। फिर उसकी मजबूती देख बातचीत का भी दरवाजा खुला। हड़ताल की बातचीत मालिक के घर पर 'शांति सदन' में ही चली थी। मजदूरों की नेता मालिक की बहन ही थीं। वे भाई के घर में ही रहती थीं। यहीं पर दोनों पक्षों के बीच सम्मानजनक समझौता हुआ। हड़ताल वापस हुई।

अनसूया बहन कहती हैं कि वह हड़ताल, यह नेतृत्व उन पर आ पड़ा था। इस घटना को, इस जीत को वे किसी वीरता के प्रकाश में दिखना नहीं चाहती थीं। लेकिन निश्चय ही उनके मजबूत नेतृत्व के बिना हड़ताल और मजदूर पता नहीं कहां फिंका गए होते। इस हड़ताल को अनसूया बहन ने अकेले अपने बूते

चलाया था। उन्होंने प्रयोग भी किए थे।

इसके बाद मजदूरों की दूसरी हड़ताल हुई। और कहा जाता है कि इस हड़ताल ने मजदूर आलम में इतिहास रच दिया। इस हड़ताल में अनसूया बहन ने गांधीजी की सहायता मांगी। इस बार की हड़ताल पिछली हड़ताल से ज्यादा लंबी चली। गांधीजी आए। उन्होंने शंकरलाल बैंकर को बुलाया और उन्हें मजदूरों की स्थिति का अध्ययन करने का काम सौंपा ताकि पता लगाया जा सके कि मालिकों से कितनी अतिरिक्त मांग करना वाजिब माना जाएगा। गांधीजी का आग्रह था कि मजदूरों को मालिकों के खिलाफ आवाज तो उठानी है लेकिन शांतिपूर्ण ढंग से। विरोध के प्रति आदर का भाव होना चाहिए। फिर भी मालिक टस से मस नहीं हुए।

हड़ताल लंबी चली। मजदूर ढीले पड़ने लगे। मजदूरों को नैतिक संबल देने के लिए फिर गांधीजी उपवास पर बैठे। अंत में एक पंचायत नियुक्त करने का निर्णय लिया गया। इस पंच फैसले से मजदूरी बढ़ी। दोनों पक्षों के बीच कोई दुश्मनी नहीं हुई। इसी बात को सबसे अधिक दर्ज करने लायक माना जाता है। शांति और दोस्ती का वातावरण बनाए रखने में अनसूया बहन का योगदान रहा। वे अपने ही परिवार के मिल मालिकों के सामने मजदूरों का अडिग विश्वास और स्नेह हालिस कर पाईं। मिल मालिकों में एक मालिक उनके सगे भाई अंबालाल थे। फिर भी अनसूया बहन मजदूरों के काम आईं।

गांधीजी, अनसूया बहन, अंबालाल— तीनों एक-दूसरे के लिए आदरणीय बन गए थे। वे एक साथ खाना खाते, बात करते फिर भी अपनी-अपनी बातों में, विचारों में दृढ़ रहते। ऐसे ही संघर्ष से फिर मजूर महाजन संघ का जन्म हुआ। सन् 1920 में एक नए किस्म का मजूर संघ स्थापित हुआ। सूती कपड़ा मिलों के मालिक और मजदूर अब एक साथ बैठकर अपनी समस्याओं को हड़ताल के बदले समाधान और पंचायतनामे से सुलझाने लगे। यह प्रणाली लगभग आज तक जारी है।

इसके बाद के दो दशकों के दौरान अनसूया बहन मजदूर परिवारों के समग्र विकास के लिए विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से काम करती रहीं। अनसूया बहन मिलों में मजदूर स्त्रियों की दयनीय स्थिति से बहुत चिंतित थीं। उस जमाने में उन्होंने अपनी सूझबूझ से मिलों में झूलाघर बनवाए। सबसे पहला झूलाघर सन् 1921 में रायपुर मिल में शुरू हुआ था। तब ऐसा करने के लिए कोई मजदूर कानून नहीं थे। उन्होंने मिलों में मजदूरों के लिए साफ सुथरे शौचालय, मजदूर स्त्रियों के लिए प्रसूतिगृह, चालों में बाल मंदिर, साक्षरता कक्षाएं, पुस्तकालय, सिलाई कक्षाएं, बदली कामगारों के लिए सरसपुर में तकनीकी कार्यशाला, मजदूर सहकारी बैंक जैसी अनेकविध मजदूर कल्याण गतिविधियां इसी संगठन के

माध्यम से करवाई। उनके मिर्जापुर के घर के आंगन में हरिजन बालिकाओं के लिए निवासी कन्यागृह भी शुरू हुआ। यह काम उनके जीवन के अंत तक उनके लिए में बसा रहा।

अनसूया बहन के जीवन काल के दौरान और उनकी अध्यक्षता में महाजन काफी विकसित हुआ। सदस्य संख्या एक लाख चालीस हजार तक पहुंच गई। उनके कारण अनन्य कही जा सकने वाली औद्योगिक शांति और स्थिरता कायम रही। परिणामस्वरूप अहमदाबाद नगर अपने श्रमिक वर्ग सहित समृद्ध होता गया।

अनसूया बहन के जीवन काल के दौरान और उनकी अध्यक्षता में महाजन काफी विकसित हुआ। सदस्य संख्या एक लाख चालीस हजार तक पहुंच गई। उनके कारण अनन्य कही जा सकने वाली औद्योगिक शांति और स्थिरता कायम रही। परिणामस्वरूप अहमदाबाद नगर अपने श्रमिक वर्ग सहित समृद्ध होता गया।

बरस बीतने के साथ-साथ अनसूया बहन के नेतृत्व का स्वरूप बदलता गया। अब अहमदाबाद के मजदूर उन्हें मां के रूप में दिल से चाहते थे। महाजन में काबिल नेतृत्व तो खड़ा हुआ था, अलबत्ता सारे पुरुष थे। अनसूया बहन ने अब संस्था से सलाहकार की भूमिका को भी समेट लिया था। सन् 1913 में इंग्लैंड छोड़कर आने के बाद पलटकर उन्होंने कभी पश्चिम की ओर नहीं देखा। गांधीजी की ही तरह अनसूया बहन के दिल में मातृभूमि की पुकार गहरे तक पहुंच गई थी। जब पंडित नेहरू ने उन्हें आई.एल.ओ., इंटरनेशन लेबर ऑर्गेनिजेशन में भारतीय

प्रतिनिधि मंडल के अध्यक्ष के तौर पर जीनिवा जाने के लिए अनुरोध किया तब मोटाबेन ने इंकार कर दिया था। किसी भी सरकारी या सार्वजनिक संस्था के स्थान या पद या किसी भी तरह के सार्वजनिक घोषणा सम्मान की उन्हें कभी कामना नहीं रही। ऐसा कोई प्रसंग आ जाता तो वे 'वह एक समय था, तब जो किया सो किया' हमेशा बस इतना बोलकर उस प्रसंग को विराम दे देती थीं।

अनसूया बहन ने 82 साल का लंबा जीवन जिया था। उन्होंने जीवन में कई चौखटे तोड़े और नए घाट गढ़े। गांधीजी के प्रति उनमें बड़ी श्रद्धा थी पर वे गांधीवादी नहीं थीं। जेल जाने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। खादी पहनने में भी वे चुस्त और नियमित नहीं थीं। गांधीजी से अनसूया बहन उम्र में छोटी थीं लेकिन उन्हें गांधीजी 'पूज्य' लिखते थे। मोटाबेन धनिक थीं। लेकिन अपने घर में वे सादगी से रहती थीं। यों उनकी यह सादगी भी मौलिक थी। उनके घर का फर्निचर इंग्लिश रोजवुड का था और उस पर आवरण सफेद खादी के थे।

अनसूया बहन के जीवन को विरोधाभास से भरपूर कहा जा सकता है। और फिर भी निडर, ईमानदारी से जीवन को उन्होंने अपनी शर्तों पर जिया।

अपने जीवन काल के दौरान मिलों में स्त्री कामगारों की संख्या में लगातार कमी होती अनसूया बहन ने देखी होगी। नई मशीनें मिलों के खातों से गैर कुशल कामगारों को मुक्त कर रही थीं। नई मशीनों पर स्त्री कामगारों को तालीम नहीं मिल रही थी। यह काम न मजदूर यूनियन कर रही थी न मालिक या महाजन। लेकिन इस मुद्दे पर अनसूया बहन ने कुछ नहीं कहा। इसकी क्या वजह हो सकती है? जब मैं महाजन में वापस लौटी तब तो मिल उद्योग में स्त्रियों का कोई भविष्य ही नहीं बचा था। 'सेवा' का जन्म शायद इस उपेक्षा में से हुआ होगा।

ऐसे परिवारों से मेरा संपर्क बढ़ने पर मुझे समझ में आया कि इन स्त्रियों के पास कई तरह की पारंपरिक योग्यता थी। वे उद्यम करती थीं। और रोजी कमाती थीं। नारी गतिविधि में जो विकास का विकल्प गढ़ा था, वह कमजोर पड़ रहा था। ये स्त्रियां चिंदी से खोल बनाती थीं, बीड़ी बनाती थीं, लोहा-लकड़ से सुथरी-लौहारी करके घर में उपयोगी चीजों का उत्पादन करती थीं और अपने परिवार का पालन पोषण करती थीं। फिर भी उनकी आर्थिक गतिविधियां लगभग नगण्य मानी जाती थीं।

रोज बाजार में बैठकर माल बेचतीं, मोहल्लों में फेरी लगातीं स्त्रियां पुलिस, साहूकारों इंस्पेक्टरों के साथ खींचतान करती थीं। लेकिन इन स्त्रियों के रोजगार की कोई पहचान न थी। श्रमजीवी स्वाश्रयी स्त्रियों के विश्व को क्या कोई जानता ही नहीं था?

शुरु में मैंने तीन तरह की स्त्रियों के बीच काम करना शुरू किया। पहली कपड़ा मार्केट की सिर पर बोझा ढोने वाली मजदूर स्त्रियां। ये सिर पर कपड़े के ढेरों थान रखकर खुदरा व्यापारियों तक पहुंचाती थीं। दूसरी मिल में कपड़े की चिंदियों से खोल सीने वाली स्त्रियां और तीसरे वो जो मिल का कचरा बीनती थीं। गरीब श्रमजीवी स्त्रियों का जीवन रोटी का यह कच्चा माल था। ये तीनों तरह का माल सीधे कपड़ा मिलों के साथ जुड़ा हुआ था। अहमदाबाद शहर तो

सन् 1913 में इंग्लैंड छोड़कर आने के बाद पलटकर उन्होंने कभी पश्चिम की ओर नहीं देखा। गांधीजी की ही तरह अनसूया बहन के दिल में मातृभूमि की पुकार गहरे तक पहुंच गई थी। जब पंडित नेहरू ने उन्हें आई.एल.ओ., इंटरनेशन लेबर आर्गेनिजेशन में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के अध्यक्ष के तौर पर जीनिवा जाने के लिए अनुरोध किया तब मोटाबेन ने इंकार कर दिया था।

इस पर निभने वाले श्रमिकों से उफन रहा था। और वे ही तो नगर के अनौपचारिक अर्थतंत्र को धड़कता हुआ रखते थे। फिर देखा-समझा कि दुनिया भर के देशों के अर्थतंत्र असंगठित आर्थिक गतिविधियों पर ही तो निभते हैं। एक ही उद्योग और उसी की वितरण श्रृंखला का अंश होने बावजूद यह विशाल श्रमिक वर्ग अब तक बनी यूनियनों से बाहर रहा, अरक्षित, अदृश्य और अबोल।

‘सेवा’ का जन्म 1972 के सितंबर में हुआ था। मोटाबेन के निधन के पांच महीने पहले। उन्हीं की तरह हमने भी बिना जोते क्षेत्र को, खेत को जोतने की हिम्मत जुटाई थी। उन्हीं की तरह हम भी श्रमिक स्त्रियों को सुन-सुन कर अपना काम सीखते गए और उनके संजोगों, उनकी आवश्यकताओं को समझते गए। उनके हल तो देर से निकल पाए।

इन यूनियनों ने स्त्रियों को स्वाधिकारपूर्ण कामगार के तौर पर तो देखा ही नहीं और न वृहद कपड़ा उद्योग के एक भाग की तरह ही देखा। इन मजदूरों में एकदम साफ-साफ दिखे ऐसा मजदूर-मालिक का संबंध नहीं था। मजदूर कानूनों में उनका कोई अधिकार नहीं था। इस तरह ये हजारों लाखों स्वाश्रयी कामगार नगण्य ही रहे। और फिर ऐसे कामगार वर्ग में सबसे बड़ी तादाद स्त्रियों की होना भी एक बड़ी वजह थी। स्त्रियों को ‘प्राथमिक कामगार’ के तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता था। इस तरह से यूनियन की सदस्यता से भी वे बाहर ही रह गईं। जब मैंने इस स्त्री कामगार वर्ग की यूनियन बनाना शुरू किया

तब गांधीवादी मजूर महाजन संघ ने मेरे काम को आशीर्वाद तो दिया लेकिन हां, महाजन से अलग।

‘सेवा’ का जन्म 1972 के सितंबर में हुआ था। मोटाबेन के निधन के पांच महीने पहले। उन्हीं की तरह हमने भी बिना जोते क्षेत्र को, खेत को जोतने की हिम्मत जुटाई थी। उन्हीं की तरह हम भी श्रमिक स्त्रियों को सुन-सुन कर अपना काम सीखते गए और उनके संजोगों, उनकी आवश्यकताओं को समझते गए। उनके हल तो देर से निकल पाए।

इन स्त्रियों को संगठित होने पर पर्याप्त मजूरी मिले और बिचौलिए ठेकेदारों से मुक्त होने भर की ही आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो बैंकिंग सेवा और सामाजिक सुरक्षा की भी आवश्यकता थी ताकि उनका जीवन और रोजगार ऊपर उठे। इन तमाम सहायक सेवाओं के बिना सेवा जैसी यूनियन कामयाब नहीं हो सकती थी। दैनंदिन संघर्ष और रचनात्मक कामों को समन्वय करने का नजरिया सेवा के लिए नया नहीं था। कामगारों के समूचे जीवन का उत्कर्ष महाजन का

बुनियादी दर्शन रहा है। लेकिन जो नया करना था, वह 'सेवा' यूनियन के अनुरूप इस दृष्टिकोण को संयोजित करना था।

मजूर महाजन अहमदाबाद के बीमार कपड़ा उद्योग तथा बेकार हो चुके मजदूर सदस्यों के साथ जुड़ रहा था तब 'सेवा' के काम विकसित हो रहे थे। 'सेवा' की कामयाबी की शुरुआत थी तभी महाजन की अरुचि शुरू हो गई थी। 'सेवा' के गैर-पारंपरिक विचारों, रूझानों तथा दृष्टिकोण के प्रति महाजन की अरुचि बढ़ने लगी थी।

सन् 1981के मई महीने में एक सुबह एक झटके में मुझे तथा 'सेवा' को महाजन ने विदाई का दरवाजा दिखा दिया था। मेरे लिए वे दुख और मुसीबत के दिन थे। लगभग बीस सालों से मैं महाजन की अंतर्निहित अंश थी। मुझे मोटाबेन की कमी बहुत अखरी। नाजुक समय में उनके पास तो थे स्वयं गांधीजी। हमारे पास बस थी गांधी विचारधारा। हम हताश नहीं हुए। यूनियन एवं सहकारिता की संलग्न रणनीति पर 'सेवा' आगे कूच करती चली गई। हमारी मुहिम ने तेजचाल पकड़ी। बैंकिंग, आरोग्य सेवा, बालसेवा, बीमा, घर, उद्योग, सहकारी समितियां यूनियन के साथ ताल मिलाकर आगे बढ़ती गईं

मैं ऐसा कह सकती हूँ कि 'सेवा' का चरित्र मोटाबेन और गांधीजी के विचारों की बुनियाद पर निर्मित हुआ है: कौमी एकता, लड़ाई की नीतिमत्ता, विरोधी का सम्मान, गौरवप्रद संघर्ष, सच्चाई और न्याय, 'आईए', 'बैठिए' 'बात करके रास्ता निकालते हैं': दोनों पक्षों के लिए लाभदायी ऐसा रचनात्मक हल—ये सब मोटाबेन की बातें, सिद्धांत 'सेवा' को विरासत में मिले हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि 'सेवा' यूनियन का संविधान 'मजूर महाजन संघ' के संविधान की नकल है। इस संविधान को गांधीजी ने सन् 1920 में स्वयं अपने हाथ से लिखा था। अलबत्ता, आज कुछ परंपराएं बदली हैं, कुछ नई रची गई हैं।

बीते सालों की वास्तविकता भिन्न थी। आज वैश्विक बाजार खड़े हो गए हैं, जनता के अर्थतंत्र में सरकार की सहायता कम होती जा रही है। श्रमजीवी स्त्रियों की रोजी, रोजगार छूटते जा रहे हैं। वे गरीबी, हिंसा की ओर धकिया दिए

वे दुख और मुसीबत के दिन थे। लगभग बीस सालों से मैं महाजन की अंतर्निहित अंश थी। मुझे मोटाबेन की कमी बहुत अखरी। नाजुक समय में उनके पास तो थे स्वयं गांधीजी। हमारे पास बस थी गांधी विचारधारा। हम हताश नहीं हुए। यूनियन एवं सहकारिता की संलग्न रणनीति पर 'सेवा' आगे कूच करती चली गई।

जा रहे हैं। इस विषमता का प्रतिकार करने के लिए 'सेवा' सहकारी समितियों की प्रेरित करती है। छोटे रहकर बड़ी शक्ति को संगठित करना 'सेवा' का ध्येय है। मोटाबेन मानव पूंजीपतियों के खिलाफ लड़ीं। हम अमानव, एकहत्थु, सत्ताशील पूंजी और उसके ढांचों के खिलाफ लड़ रहे हैं। स्वतंत्रता संग्राम में मोटाबेन विदेशी राज के खिलाफ लड़ी थीं। हम विदेशी पूंजी और उसके परिणामस्वरूप स्थानीय अर्थव्यवस्था पर होने वाले शोषण और अन्याय के खिलाफ लड़ रहे हैं। इसी ध्येय को पूरा करते हुए हमने देश में तेरह लाख श्रमजीवी स्त्रियों की यूनियन बनाई है। मैं इतना ही कहना चाहूंगी कि शांतिमय रचनात्मक मार्ग बनाने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का नेतृत्व अधिक उपकारक साबित होता है।

'सेवा' लगातार बदलती रहती है। कुछ क्षेत्रों में उसकी जड़ें गहरी हैं, कुछ अन्य क्षेत्रों में हम थोड़े झीने फैले हुए हैं। हमारे बदलते सदस्यों के साथ समस्याएं भी बदलती हैं। हर नया व्यवसाय नई समस्याओं की श्रृंखला लेकर आता है। हर के एकदम नए हल और नई अपेक्षाएं हैं। कुछ से मुकाबला करने में हम समर्थ होते हैं। लेकिन कुछ में कमजोर भी।

यह प्रक्रिया ही हमारी शिक्षा है। अधिकतर तो हम अजानी परिस्थितियों में साहस करते होते हैं। हर बार हम जीतते नहीं हैं। अधिक तो विफलताएं ही मिली हैं। यह संभव है कि स्त्रियां होने के कारण पूरे प्रसाद से हम वंचित रह जाते हों और इसीलिए जतन करना अधिक सीखते हैं। हमारे लचीलेपन के कारण समस्याओं का हल खोजने में हमारी शक्ति अधिक कारगर होती है। दुर्भाग्य से, हमारे धीरज और शक्ति को सरकार तथा नीति-निर्माताओं के समक्ष बार-बार कसौटी से गुजरना पड़ता है।

अनसूया बहन अब भी हमारे बीच हैं। 'सेवा' में अनसूया बहन की उपस्थिति सिर्फ तात्विक नहीं है। हर पखवाड़े वह साकार होती है। 'सेवा' की स्त्रियां नियमित तौर पर उनसे मिलती हैं और उन्हें पढ़ती हैं। वह है हमारा पैंतीस साल पुराना 'अनसूया' नामक पाक्षिक। संस्कृत में इसका अर्थ है असूया यानी द्वेष-रहित। सच में, यह हमारी निधि है। मोटाबेन की तो वह आत्मा थी।

भोपाल से प्रकाशित पत्रिका अनसूया के फरवरी,
2012 के अंक में छपे एक बड़े लेख के संपादित अंश।

मृदु क्रांतिकारी नाम से प्रसिद्ध इला बहन ने अपना जीवन स्त्री कामगारों के बीच लगाया है। सन् 1972 में उनके द्वारा स्थापित सेवा नामक संस्था आज लगभग दस लाख महिलाओं-सदस्यों का एक सशक्त संगठन है।



हे भगवान प्लास्टिक

सुसान फ्रिंकेल

पिछले दिनों देश की सबसे बड़ी अदालत ने कहा कि हमारा देश प्लास्टिक के एक टाईम बम पर बैठा है। यह टिक-टिक कर रहा है, कब फट जाएगा, कहा नहीं जा सकता। हर दिन पूरा देश कोई 9000 टन कचरा फेंक रहा है! उसने इस पर भी आश्चर्य प्रकट किया है कि जब देश के चार बड़े शहर— दिल्ली, मुंबई, चैन्नई, कोलकाता— ही इस बारे में कुछ कदम नहीं उठा रहे तो और छोटे तथा मध्यम शहरों की नगरपालिकाओं से क्या उम्मीद की जाए?

कोई नब्बे बरस पहले हमारी दुनिया में प्लास्टिक नाम की कोई चीज नहीं थी। आज शहर में, गांव में, आसपास, दूर-दूर जहां भी देखो प्लास्टिक ही प्लास्टिक अटा पड़ा है। गरीब, अमीर, अगड़ी-पिछड़ी पूरी दुनिया प्लास्टिकमय हो चुकी है। सचमुच यह तो अब कण-कण में व्याप्त है— शायद भगवान से भी ज्यादा!

मुझे पहली बार जब यह बात समझ में आई तो मैंने सोचा कि क्यों न मैं एक प्रयोग करके देखूं— क्या मैं अपना कोई एक दिन बिना प्लास्टिक छूए बिता सकूंगी। खूब सोच समझ कर मैंने यह संकल्प लिया था। दिन शुरू हुआ। नतीजा आपको क्या बताऊं, आपको तो पता चल ही गया होगा। मैं अपने उस दिन के कुछ ही क्षण बिता पाई थी कि प्लास्टिक ने मुझे छू लिया था!

फिर मैं सोचती रही कि इस विचित्र चीज ने कैसे हम सबको, हमारे सारे जीवन को बुरी तरह से घेर लिया है। सब जानते हैं, या कुछ तो जानते ही हैं कि यह बड़ा विषैला है। पर इस विषैली प्रेम कहानी ने हमें जन्म से मृत्यु तक बांध लिया है। अब हम सब इस बात को भी भूल चुके हैं कि हमारा

जीवन कभी बिना प्लास्टिक के भी चलता था, ठीक से चलता था। प्लास्टिक की थैली नहीं थी, प्लास्टिक की बोतल नहीं थी पर हम थे, हमारा जीवन तो था। यही सब सोचते-सोचते मैंने इस विचित्र पदार्थ की जानकारी एकत्र करना शुरू किया। इसके बारे में कुछ सोचना-समझना, पढ़ना-लिखना शुरू किया।

हमारा यह प्लास्टिक उसी का हिस्सा है। यों देखा जाए तो सिद्धांत तो अच्छा ही था। कचरे को यों ही कहीं फेंक देने के बदले उसमें से कोई और काम की चीज बन जाए तो कितनी अच्छी बात है। इस तरह पेट्रोल की सफाई से निकले कचरे से हमारा यह प्लास्टिक बन गया। पर शायद साध्य और साधन दोनों ही गड़बड़ थे। इसलिए सिद्धांत भले ही ठीक था, परिणाम भयानक ही निकला!

तब मुझे यह जानकर बड़ा ही अचरज हुआ कि दुनिया में तेल की, पेट्रोल की खोज के बाद प्लास्टिक का उदय हुआ था। तेल और प्राकृतिक गैस की खुदाई के बाद उनकी सफाई की जाती है। उस सफाई में जो कचरा बच निकलता है— हमारा यह प्लास्टिक उसी का हिस्सा है। यों देखा जाए तो सिद्धांत तो अच्छा ही था। कचरे को यों ही कहीं फेंक देने के बदले उसमें से कोई और काम की चीज बन जाए तो कितनी अच्छी बात है। इस तरह पेट्रोल की सफाई से निकले कचरे से हमारा यह प्लास्टिक बन गया। पर शायद साध्य और साधन दोनों ही गड़बड़ थे। इसलिए सिद्धांत भले ही ठीक था, परिणाम भयानक ही निकला!

फिर धीरे-धीरे मुझे यह भी समझ में आने लगा कि ये प्लास्टिक महाराज एक नहीं हैं, उनके तो कई रूप हैं, कई अवतार हैं। और इनके हर रूप के जन्म की कहानी अलग-अलग है। फिर इन कहानियों में से और कहानियां निकलती हैं।

उदाहरण के लिए प्लास्टिक का पहला प्रकार सैलुलाइड नामक एक उत्पादन था। इससे तरह-तरह के कंघे, कंधियां और बटनें आदि बनी थीं। इस उत्पादन के पहले ऐसी चीजें प्रायः कुछ जानवरों की हड्डियों से बनाई जाती थीं। उस काम के लिए ऐसे जानवरों को मारा जाता था। कच्चा माल आसानी से नहीं मिल पाता था तो पक्का माल भी कम ही बनता था। वह सबकी पहुंच से दूर ही रहता था। जैसे ही यह प्लास्टिक आया, ये सारी चीजें एकदम सस्ती हो गईं और खूब मात्रा में मिलने लगीं। हरेक की पहुंच में भी आ गईं। हर कमीज, कुरते, कुरती में करीने से बनी रंग बिरंगी बटनें लगने लगीं और फिर कई जेबों में हल्की, मजबूत कंधियां भी रखा गईं। इस

सरल-सी बात को कठिन बना कर कहना हो तो बताया जा सकता कि इस दौर में इन चीजों का 'लोकतांत्रिकरण' हो गया था अचानक।

फिर भी उस दौर में प्लास्टिक कण-कण में व्याप्त नहीं हो पाया था। इसकी शुरुआत तो सन् 1920 के आसपास हुई। इसके पीछे विश्व युद्ध का भी बड़ा हाथ था। अमेरिका और यूरोप के युद्धरत देशों ने अपने-अपने यहां के उद्योगों को इस बात के लिए बड़ा सहारा दिया, प्रोत्साहन दिया कि वे धातु आदि से बनने वाली भारी भरकम चीजों के बदले उतनी ही मजबूत, पर बेहद हल्की चीजों के उत्पादन में शोध करें। युद्ध में काम आने वाली चीजों का वजन ज्यादा होता था। इस कारण उनको यहां-वहां ले जाना कठिन और मंहगा भी था। ऐसे विकल्प सामने आने लगे तो फिर उनका उत्पादन बढ़ाया जाने लगा—कहीं युद्ध में जरूरत की कोई चीज कम न पड़ जाए, किसी कमी की वजह से युद्ध ही न हार जाएं— इस भय से इन चीजों का उत्पादन बढ़ा कर रखा गया।

फिर जब युद्ध खत्म हुआ तो समझ में नहीं आया कि अब युद्ध के लिए लगातार सामान बना रहे इन कारखानों का क्या किया जाए। तब उन्हें एक दूसरे मोर्चे की तरफ मोड़ दिया— बाजार की तरफ। इस तरह प्लास्टिक से बन रही चीजों को युद्ध के मैदान से हटा कर बाजार की तरफ झोंक दिया गया। यही वह दौर है जिसमें अब तक तरह-तरह की धातुओं से, लकड़ी आदि से बन रही चीजें प्लास्टिक में ढलने लगीं। कुर्सी-मेज, कलम-दावात, खेल-खिलौने, चौके के डिब्बे-डिब्बी और तो और कपड़े-लत्ते भी प्लास्टिक से बनने लगे, बिकने लगे।

इसके बाद तो प्लास्टिक उत्पादन की लहर पर लहर आती गई। दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद दुनिया के कई भागों में थोड़ी बहुत शांति स्थापित हुई, कई देश नए-नए आजाद हुए और नागरिकों के मन में, जीवन में भी थोड़ी शांति, थोड़ा स्थायित्व आने लगा था। ठीक युद्ध की तरह ही इस शांति का भी प्लास्टिक उद्योग ने भरपूर लाभ उठाया। अब तक जम चुके व्यापार को उसने तेज गति दी।

जब युद्ध खत्म हुआ तो समझ में नहीं आया कि अब युद्ध के लिए लगातार सामान बना रहे इन कारखानों का क्या किया जाए। तब उन्हें एक दूसरे मोर्चे की तरफ मोड़ दिया— बाजार की तरफ। इस तरह प्लास्टिक से बन रही चीजों को युद्ध के मैदान से हटा कर बाजार की तरफ झोंक दिया गया।

अब उद्योग ने घर-गिरस्ती के दो-तीन पीढ़ी चल जाने वाले सामानों पर अपना निशाना साधा। थाली-कटोरी, बर्तन, कप-बशी, चम्मच, भगोने, बाल्टी लोटे आदि न जाने कितनी चीजों को बस एक पीढ़ी के हाथ सोंपना और फिर छीन भी लेना उसने अपना लक्ष्य बनाया। वह पीढ़ी भी इस काम में, अभियान में खुशी-खुशी शामिल हो गई। फिर घर भी अब पहले से छोटे हो चले थे,

आज पूरी दुनिया, नई, पुरानी, पढ़ी-लिखी, अनपढ़ दुनिया भी इन्हीं प्लास्टिक की थैलियों को लेकर एक अंतहीन यात्रा पर निकल पड़ी है। छोटे-बड़े बाजार, देसी-विदेशी दुकानें हमारे हाथों में प्लास्टिक की थैली थमा देती हैं। हम इन थैलियों को लेकर घर आते हैं। कुछ घरों में ये आते ही कचरे में फेंक दी जाती हैं तो कुछ साधारण घरों में कुछ दिन लपेट कर संभाल कर रख दी जाती हैं, किसी और दिन कचरे में डालने के लिए।

संयुक्त परिवार भी टूटने की कगार पर थे। ऐसे में बाप-दादाओं-दादियों के भारी भरकम वजनी बर्तनों को कहां रखते। इनके बदले बेहद हल्के, शायद उतने ही मजबूत बताए गए रंग बिरंगे प्लास्टिक के बर्तन आ गए।

फिर तो जैसे एक-एक चीज चुनी जाने लगी। जहां-जहां प्लास्टिक नहीं है, वहां-वहां बस यही हो जाए— इस सधी हुई कोशिश ने फिर हमारे पढ़े-लिखे समाज का कोई भी कोना नहीं छोड़ा। हमारे कंधों पर टंगे जूट, कपड़े, कैनवस के थैलों से लेकर पैर के जूते-चप्पल— सब कुछ प्लास्टिकमय हो गया। प्लास्टिक की थैलियां सब जगह फैल गईं।

आज पूरी दुनिया, नई, पुरानी, पढ़ी-लिखी, अनपढ़ दुनिया भी इन्हीं प्लास्टिक की थैलियों को लेकर एक अंतहीन यात्रा पर निकल पड़ी है। छोटे-बड़े बाजार, देसी-विदेशी दुकानें हमारे हाथों में प्लास्टिक की थैली थमा देती हैं।

हम इन थैलियों को लेकर घर आते हैं। कुछ घरों में ये आते ही कचरे में फेंक दी जाती हैं तो कुछ साधारण घरों में कुछ दिन लपेट कर संभाल कर रख दी जाती हैं, फिर किसी और दिन कचरे में डालने के लिए। इस तरह आज नहीं तो कल कचरे में फिका गई इन थैलियों को फिर हवा ले उड़ती है, एक और अंतहीन यात्रा पर। फिर यह हल्का कचरा जमीन पर उड़ते हुए, नदी नालों में पहुंच कर बहने लगता है। और फिर वहां से बहते-बहते समुद्र में। यहां भी एक और अंतहीन यात्रा शुरू हो जाती है।

खोज करने वालों ने इस प्लास्टिक की समुद्री यात्रा को भी समझने की कोशिश की है। उन्हें यह जानकर अचरज हुआ कि हमारे घरों से निकला यह प्लास्टिक का कचरा अब समुद्रों में भी खूब बड़े-बड़े ढेर की तरह तैर रहा है

न वह जमीन पर गलता है, सड़ता है न समुद्र में ही। यह प्लास्टिक तो आत्मा की तरह अजर-अमर है और प्रशांत महासागर में एक बड़े द्वीप की तरह धीरे-धीरे जमा हो चला है।

जिन लोगों को आंकड़ों में ही ज्यादा दिलचस्पी रहती है, उन्हें तो इतना बताया ही जा सकता है कि अमेरिका में हर पांच सैकिंड में प्लास्टिक की कोई 60,000 थैलियां खप जाती हैं। इस तरह के आंकड़ों को किसी विशेषज्ञ ने पूरी दुनिया के हिसाब से भी देख कर बताया है कि हर दस सैकिंड में कोई 2,40,000 थैलियां हमारे हाथों में थमा दी जाती हैं। थोड़ी ही देर बाद फेंक दी जाने वाली ये थैलियां फिर गिनी नहीं जातीं। कचरा बन जाने पर गिनने के बदले इन्हें तोला जाता है। वह तोल हजारों टन होता है।

ऐसा भी नहीं है कि इस पर किसी का ध्यान ही नहीं गया हो। प्लास्टिक के फैलते, पसरते व्यवहार को कई देशों ने, कई समाजों ने अपनी-अपनी तरह से रोकने के कई प्रयत्न किए हैं। कुछ देशों ने इस पर प्लास्टिक टैक्स लगा कर देखा है। ऐसा टैक्स लगते ही खपत में एकदम गिरावट भी देखी गई है। कहीं-कहीं इन पर सीधे प्रतिबंध भी लगाया गया है। इसके बदले फिर अखबार, कागज, कपड़े की थैलियां, लिफाफे भी चलन में आए हैं।

पर हमारा दिमाग इन चीजों को भी तुरंत कचरा बना कर फेंक देता है। तब कचरे का ढेर, पहाड़ प्लास्टिक का न होकर कागज का बन जाता है। दूकानों से घर तक चीजें लाने का माध्यम इतनी कम उमर का क्यों हो, वह चिरंजीव क्यों न बने— प्लास्टिक के कारण अब ऐसे सवाल भी हमारे मन में नहीं उठ पाते।

कुल मिलाकर हम सब प्लास्टिक के एक बड़े जाल में फंस गए हैं। यह जाल इतना बड़ा है और हम उसके मुकाबले इतने छोटे बन गए हैं कि अब हमें यह जाल दिखता ही नहीं। उसी में फंसे हैं। पर हम अपने को आजाद मानते रहते हैं।

प्लास्टिक अब एक नया भगवान बन गया है। वह हमारे चारों ओर है। और शायद भगवान की तरह ही वह हमें दिखता नहीं।

हे भगवान प्लास्टिक!

जापान से प्रकाशित सोका गार्ड इंटरनेशनल त्रैमासिक पत्रिका के जनवरी 2013 के अंक में छपे एक लंबे इंटरव्यू पर आधारित। हिन्दी में अनुपम मिश्र द्वारा प्रस्तुत।



मेंढा गांव की गल्ली सरकार

मिलिंद बोकील

27 अप्रैल 2011। गांव मेंढा, तहसील धानोरा, जिला गडचिरोली के बाहर का मैदान। समय दोपहर साढ़े बारह था। चिलचिलाती धूप। तपी हुई जमीन। ऊपर चमकता आसमान। मैदान में बड़ा-सा शामियाना खड़ा है। सभा चल रही है। मंच पर नेताओं और अफसरों का हुजूम। दिल्ली से केंद्रीय वनमंत्री आए हैं। उनके साथ योजना आयोग की सचिव भी। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री भी तीन काबीना मंत्रियों— वनमंत्री तथा आदिवासी विकास मंत्री—के साथ बिराजे हैं। तीन स्थानीय विधायक भी मौजूद हैं। जिला परिषद के अध्यक्ष भी। वन तथा राजस्व विभाग के वरिष्ठ अफसरों की तो पूरी पलटन ही हाजिर है। उनके सामने जिला स्तर के अफसर बौने लग रहे हैं।

क्यों इकट्ठा हुए हैं ये सब? दिल्ली और मुंबई की सरकारें मेंढा-लेखा गांव में आई हैं, मेंढा की ग्रामसभा को उनके जंगल में पैदा होने वाले बांस की बिक्री का अधिकार सुपुर्द करने के लिए। दो साल पहले ही 2006 के वन अधिकार कानून ने मेंढा को उसके 1800 हेक्टेयर वन-जमीन पर स्वामित्व-अधिकार दिया था। महाराष्ट्र के राज्यपाल ने खुद आकर उस अधिकार का कागज गांव को सौंपा था।

लेकिन हाथ में आया था सिर्फ कागज। वास्तव में अधिकार मिला नहीं था। जंगल से कोई भी चीज बाहर लानी हो तो वन विभाग का अनुमतिपत्र जरूरी होता है, और विभाग यह अनुमतिपत्र नहीं दे रहा था। वह हठ पकड़े था कि लोग बांस अपने उपयोग के लिए भले काटें, लेकिन बेच नहीं सकते। और तो और, उसने मेंढा से बांस खरीदने वालों पर मुकदमा दायर करने की धमकी भी दी थी। दो साल से मेंढा के लोग इसके खिलाफ लड़ रहे थे।

आज उनकी लड़ाई सफल हुई है। केंद्रीय वनमंत्री खुद अनुमतिपत्र-पुस्तिका देने आए हैं। शामियाना लोगों से खचाखच भरा है। तीन-चार हजार लोग होंगे।

करीब आधी संख्या में महिलाएं मौजूद हैं। तहसील के दूसरे आदिवासी गांवों के लोग भी आए हैं। खासकर वहां के पंचायत सदस्य और वन-अधिकार समितियों के सदस्य। सबके चेहरों पर इंतजार की बेसब्री पढ़ी जा सकती है। वातावरण में गड़बड़ी हड़बड़ी नहीं, उत्साह है। शायद, जो सामने घटित हो रहा है, उस पर एकाएक विश्वास नहीं हो रहा है।

वन विभाग के प्रमुख अधिकारी सभा की भूमिका रखते हैं। बिलकुल उबाऊ शैली में। बताते हैं कि वन-अधिकार के इतने हजार दावे मंजूर हुए हैं। उनमें व्यक्तिगत दावों की संख्या ही अधिक है; सामूहिक दावों की संख्या नगण्य है। फिर शुरू होते हैं भाषण। बड़े अतिथियों के अलावा सिर्फ देवाजी तोफा बोलते हैं। देवाजी मेंढा गांव के हैं। शुरूआत गोंडी में करते हैं। लोगों को घोषणा देने के लिए कहते हैं: “दिल्ली-मुंबई में हमारी सरकार, हमारे गांव में हम ही सरकार।” फिर कहते हैं— “दिल्ली की सरकार आज गल्ली की सरकार से मिलने आई है। जैसी दिल्ली में एक सरकार है, वैसी गली में भी यानी गांव में भी एक सरकार है। दोनों को मिलकर काम करना चाहिए। फिर अपनी खास कीर्तनकार की शैली में कहते हैं— “बटन दबाकर शुरू होती है वह कार, और जिसे धक्का देकर सरकाना पड़ता है— वह सरकार!” लोग तालियां बजाते हैं। मंच पर आसीन मंत्री भी सिर हिलाते हैं। देवाजी कहते हैं, “मैं नेता नहीं हूं, न कोई संत या साधु-बाबा हूं। एक आम आदमी हूं। इस देश का आम आदमी ही इस देश का असली चालक है।” संविधान के आमुख का वे इस संदर्भ में उल्लेख करते हैं— हम भारत के लोग। जो इन लोगों की इच्छा के अनुसार चलता है, वही है असली लोकतंत्र, न कि वह जो सिर्फ प्रतिनिधि चलाते हैं।

फिर दूसरे वक्ता बोलते हैं। देवाजी का भाषण इतना प्रभावी रहा है कि अब तो सभी देवाजी के भाषण का संदर्भ देते चलते हैं। यहां विधायक आदिवासियों की कैफियत रखते हैं। वे सत्ता-पक्ष के ही हैं। कहते हैं कि जिले में 79 प्रतिशत जंगल हैं, जिसकी यहां के लोगों ने ही रक्षा की है, लेकिन सरकार को इसकी कद्र नहीं है। मंत्रालय में बैठे अड़गेबाज लोगों के कारण विकास-कार्य ठीक से संपन्न नहीं होते। बाद में महाराष्ट्र के वनमंत्री बोलते हैं। लो वे भी विधायक तथा

गडचिरोली के बाहर का मैदान। समय दोपहर साढ़े बारह था। चिलचिलाती धूप। तपी हुई जमीन। ऊपर चमकता आसमान। मैदान में बड़ा सा शामियाना खड़ा है। सभा चल रही है। मंच पर नेताओं और अफसरों का हुजूम। दिल्ली से केंद्रीय वनमंत्री आए हैं। उनके साथ योजना आयोग की सचिव भी।

देवाजी की बातों से सहमति जताते हैं— कहते हैं, सरकार धक्का दिए बगैर नहीं चलती, यह हमारी भी दिक्कत है।

महाराष्ट्र के गृहमंत्री भाषण देते हैं। वे गडचिरोली जिले के पालक-मंत्री भी हैं। वे स्वीकार करते हैं कि “गडचिरोली जिला हर चीज में महाराष्ट्र में आखिर का है। जिले का प्रशासन-तंत्र अपर्याप्त है। 40 फीसदी स्थान यहां रिक्त पड़े हैं।

देवाजी तोफा बोलते हैं:
“दिल्ली-मुंबई में हमारी सरकार, हमारे गांव में हम ही सरकार।”
फिर कहते हैं— “दिल्ली की सरकार आज गल्ली की सरकार से मिलने आई है। जैसी दिल्ली में एक सरकार है, वैसी गली में भी यानी गांव में भी एक सरकार है। दोनों को मिलकर काम करना चाहिए। फिर अपनी खास कीर्तनकार की शैली में कहते हैं— “बटन दबाकर शुरू होती है वह कार, और जिसे धक्का देकर सरकाना पड़ता है— वह सरकार!”

माओवादी विकास कार्य होने नहीं देते। सबको मिलकर चुनौतियों का सामना करना चाहिए।” उनके भाषण में माओवादियों का दबाव महसूस होता है। वैसे तो यह दबाव कल से ही महसूस हो रहा था। मंत्रीगण सड़क के बदले हेलिकॉप्टर से उड़कर आए हैं। कार्यक्रम के लिए पुख्ता बंदोबस्त हैं कल से ही। गांव मानो सैनिक छावनी-सा बन गया है। राज्य की पुलिस तो है ही, केंद्रीय रिजर्व पुलिस भी है। साथ में कमांडोज और बख्तरबंद गाड़ियां भी। गांववालों को भी फोटो-पास लेना लाजिमी है। देवाजी को भी पास लेना पड़ा है। अपने ही गांव में अपनी पहचान दिलाना!

बाद में केंद्रीय वनमंत्री बोलते हैं— वे मराठी समझते हैं, इसलिए पहले हुए भाषण उनकी समझ में आए हैं। कहते हैं कि यह ऐतिहासिक दिन है। आज हम एक ऐतिहासिक कदम उठा रहे हैं। सन् 1927 का वन कानून

ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासकों ने बनाया था। उसने लोगों के अधिकार छीने थे। सन् 2006 के कानून से हम उन्हें वे अधिकार फिर सौंप रहे हैं। वे जाहिरा तौर पर स्वीकार करते हैं कि सिर्फ नौकरशाही के बूते पर वनों की रक्षा नहीं की जा सकती, यह साफ हो चुका है। लोगों को वन पर अधिकार सौंपना ही पड़ेगा, क्योंकि वे ही अपने जंगल की रक्षा तथा उसकी व्यवस्था अच्छे तरीके से कर सकते हैं। वे अपने विभाग के अफसरों को दो टूक बात कहते हैं कि पुराने पुलिसनुमा तरीके से अब नहीं चलेगा। लोगों के अधिकार उन्हें दें। उन अधिकारों के बीच न आएँ। अगर लोगों के साथ काम करेंगे तो ही जंगल बचेंगे।

फिर मुख्यमंत्री की बारी आती है। वे राज्य की राजनीति में अभी नए हैं, लेकिन केंद्र में वन अधिकार कानून बनाने में उनका सहभाग रहा है। वे वनमंत्री

के कथन की ताईद करते हैं। कहते हैं कि ऐतिहासिक कदम उठाया जा रहा है। वे जिले के लिए कई नई विकास योजना भी घोषित करते हैं। लोगों को अधिकार दिलाने की कटिबद्धता दोहराते हैं। और विकास-प्रकल्पों को चालना देने की बात करते हैं। स्वीकार करते हैं कि 2006 के वन अधिकार कानून का अमल आज इतने सालों बाद सही मायने में हो रहा है। सही है, आज तक तो सरकार सिर्फ कागज ही चलाती रही है। अधिकार लोगों को पहली बार ही मिल रहे हैं।

आखिर में अनुमति-पत्र-पुस्तिका प्रदान करने का कार्यक्रम होता है। मेंढा ग्रामसभा की ओर से देवाजी पुस्तिका लेते हैं। छायाचित्रकारों की भीड़ उमड़ती है। कैमरे दमकते हैं। लोग तालियां बजाते हैं। वैसे, यह दृश्य कोई नया नहीं लगता। किसी मंत्री के हाथों हो रहे पुरस्कार प्रदान कार्यक्रम जैसा ही दिखता है। लेकिन यह आम कार्यक्रम नहीं है। यह भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दिन है। ऐतिहासिक दिन! एक अपूर्व घटना! सरकार जो दे रही है, वह महज जंगल-उत्पाद की निकासी के अनुमति पत्रों का पुलिंदा नहीं है, वह जनता के अधिकारों की सनद है। वह मेंढा के गांववाले ले रहे हैं, लेकिन दरअसल उनके रूप में सारे देश की जनता अपने स्वाभाविक अधिकार सिद्ध कर रही है। जो यह समझ रहे हैं, वे इस घटना की ऐतिहासिकता महसूस कर रहे हैं। कल सब अखबारों में यह समाचार पहले पन्ने पर आने वाला है।

यह दिन यकायक नहीं आया है। इसके लिए बहुत लंबा संघर्ष करना पड़ा है। एक दो नहीं करीब 25 साल का संघर्ष! मूक-संघर्ष! अकेले लड़ी एक लड़ाई! सभा चल रही है। शामियाने के पर्दे फड़फड़ा रहे हैं। आंखों के सामने से सारे इतिहास का चलचित्र गुजरता जाता है।

कैसे शुरू हुआ यह सब?

1984 में चंद्रपुर-गडचिरोली में 'जंगल बचाव-मानव बचाव' आंदोलन शुरू हुआ। आंध्रप्रदेश में गोदावरी नदी पर इंचमपल्ली में तथा पास के बस्तर जिले

मेंढा ग्रामसभा की ओर से देवाजी पुस्तिका लेते हैं। छाया चित्रकारों की भीड़ उमड़ती है। कैमरे दमकते हैं। लोग तालियां बजाते हैं। वैसे, यह दृश्य कोई नया नहीं लगता। किसी मंत्री के हाथों हो रहे पुरस्कार प्रदान कार्यक्रम जैसा ही दिखता है। लेकिन यह आम कार्यक्रम नहीं है। यह भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दिन है। ऐतिहासिक दिन! एक अपूर्व घटना! सरकार जो दे रही है, वह महज जंगल उत्पाद की निकासी के अनुमति पत्रों का पुलिंदा नहीं है, वह जनता के अधिकारों की सनद है।

में इंद्रावती नदी पर भोपालपट्टनम् में बांध बनाने की योजना थी। इस क्षेत्र में वैनगंगा और इंद्रावती ये मुख्य नदियां हैं; दोनों गोदावरी की उपनदियां। इंद्रावती महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ के बीच की सीमारेखा है, तो वैनगंगा चंद्रपुर और गडचिरोली जिलों के बीच की सीमारेखा है। दोनों प्रकल्प महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ और आंध्रप्रदेश की सीमा पर थे; फिर भी गडचिरोली जिले का काफी जंगल और आदिवासी क्षेत्र डूबने वाला था। लाभ कुछ भी नहीं था। इस क्षेत्र के आदिवासी गांवों में इन योजनाओं के खिलाफ आंदोलन खड़ा होना स्वाभाविक था। इस आंदोलन को लालश्यामशहा महाराज का नेतृत्व मिला।

लालश्यामशहा महाराज की जमींदारी थी राजनांदगांव जिले के पानाबारस गांव में। जमींदार होने के बावजूद उनका रहन-सहन और बर्ताव आम किसान-जैसा ही रहता था। वे समाजवादी विचार के थे। 1972 में चंद्रपुर लोकसभा क्षेत्र से अपक्ष, निर्दलीय सांसद के तौर पर वे निर्वाचित हुए। लेकिन 1971 में बांगला देश युद्ध के बाद शरणार्थियों को सरकार ने बस्तर में बसाया, इसका विरोध कर उन्होंने सांसद से इस्तीफा दिया।

लालश्यामशहा महाराज एक अनोखे नेता थे। वे थे एक गोंड जमींदार। पुराने मध्यप्रांत में गोंड समुदाय की 84 जमींदारियां थीं। ब्रिटिश राज में भूराजस्व की वसूली कर उसे सरकार में जमा करना इन जमींदारों की जिम्मेवारी थी। लालश्यामशहा महाराज की जमींदारी थी राजनांदगांव जिले के पानाबारस गांव में। जमींदार होने के बावजूद उनका रहन-सहन और बर्ताव आम किसान-जैसा ही रहता था। वे समाजवादी विचार के थे। 1972 में चंद्रपुर लोकसभा क्षेत्र से अपक्ष, निर्दलीय सांसद के तौर पर वे निर्वाचित हुए। लेकिन 1971 में बांगला देश युद्ध के बाद शरणार्थियों को सरकार ने बस्तर में बसाया, इसका विरोध कर उन्होंने सांसद से इस्तीफा दिया।

इसके बाद उनका सारा जीवन जन-जागरण के लिए समर्पित रहा। वे गांव-गांव घूमते। किसी के घर में नहीं, बल्कि पेड़ के नीचे ठहरते। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। आदिवासी-विकास के बारे में उनके अपने विचार थे। वे बी.ए. तक पढ़े थे। बांध-विरोधी आंदोलन व्यापक विकास का आंदोलन हो, यह उनका प्रयास रहा। इसीलिए आंदोलन को 'जंगल बचाव-मानव बचाव' नाम दिया गया।

आंदोलन इतना जबर्दस्त था, लोगों का असंतोष इतना पैना था कि सरकार को ये बांध खारिज करने पड़े। ये दो तो खारिज हुए ही, साथ में कारवाफा और तुलतुली जैसे दो बड़े प्रस्तावित बांध भी खारिज करने पड़े। आंदोलन की असली सफलता थी, आदिवासियों में इस निमित्त से आई जागृति।

उन्हीं में से एक थे, चंद्रपुर के युवा कार्यकर्ता मोहन हिराबाई हिरालाल। वे जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में काम करने वाले विद्यार्थी तथा युवाओं के संगठन छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी में शामिल थे। संघर्ष वाहिनी का केंद्र उन्होंने चंद्रपुर में शुरू किया था। 1978 से चंद्रपुर में काम कर रही 'महाराष्ट्र जबरान जोत आंदोलन कृति समिति' में भी वे सक्रिय थे। 1979 से 1986 के बीच एक अनूठी प्रक्रिया उन्होंने उस क्षेत्र में चलाई थी, जिसका नाम था 'अपना रास्ता हम खुद ही खोजें।' इस प्रक्रिया का आरंभ होता था आदमी खोजने और उनसे संवाद करने से। उन्होंने अपने मित्रों के साथ 1984 में 'वृक्षमित्र' संस्था की स्थापना की थी। संस्था का उद्देश्य था, जंगल तथा मानव के बीच के संबंधों की खोज और उन संबंधों को मानव-विकास तथा पर्यावरण-संवर्धन के लिए पोषक बनाना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1987-88 में गडचिरोली जिले की धानोरा तहसील के 22 गांवों में 'वन तथा लोगों की उपजीविका' इस विषय का अध्ययन उन्होंने किया। इस अध्ययन के दौरान वे खोज रहे थे कि क्या सर्वसहमति से अपने निर्णय लेने वाला कोई गांव है? 'जंगल बचाव-मानव बचाव' आंदोलन के दौरान एक पदयात्रा में उनका देवाजी से परिचय हुआ था। देवाजी ने उन्हें बताया— 'हां, हमारा गांव ऐसा है; हम सर्वसहमति से निर्णय लेते हैं। उसका नाम था— मेंढा लेखा।

गडचिरोली से राजनांदगांव (छत्तीसगढ़) की तरफ जो रास्ता जाता है उस पर गडचिरोली से तीस किलोमीटर दूरी पर मेंढा गांव रास्ते से सटा हुआ ही है। आगे तीन किलोमीटर दूरी पर, इसी रास्ते पर तहसील का गांव धानोरा है। मेंढा के पड़ोस में लेखा गांव है। इस परिसर में मेंढा नाम के दो-चार गांव हैं; इसलिए इस मेंढा को लेखा-मेंढा, अर्थात् लेखा के पास का मेंढा कहा जाता है। लेखा बड़ा गांव है। उसमें आदिवासियों के अलावा दूसरे समुदाय के लोग भी हैं। ग्रामपंचायत लेखा के नाम से जानी जाती है। उसमें लेखा, मेंढा और कन्हारटोला, ये तीन गांव हैं। कन्हारटोला गोंड समुदाय का ही 25-30 घरों का छोटा गांव है।

मेंढा करीब सवा सौ-डेढ़ सौ सालों से आबाद होगा। वहां के लोग बताते हैं कि पूरब की ओर बस्तर तहसील का पुसागंडी उनका मूल गांव है। वहां से सात भाइयों का एक परिवार इस क्षेत्र में आया। सभी मेंढा में ही नहीं बसे, कुछ लोग इधर-उधर भी गए। मेंढा के पुलिस पटेल रहे बिरजू जोगी तोफा का परिवार सबसे पहले यहां बसा। बिरजू गांव के मुख्य पुजारी भी हैं। उम्र 70 से ज्यादा ही होगी। उनके दादा के दादा यहां पहले आए। फिर दूसरे लोग आए। ये सब लोग पहले पहाड़ों पर रहते थे, लेकिन जैसे बस्ती बड़ी वैसे घुमंतू खेती से गुजर-बसर करना कठिन हुआ। इसलिए वे नीचे मैदानी क्षेत्र में नदी-नालों के किनारे खेती करने आए। ये लोग माडिया गोंड कहलाते हैं— यानि पहाड़ पर रहने

वाले गोंड। गोंडी भाषा में माड यानी पहाड़। देवाजी बताते हैं कि उनके पुरखे अबूझमाड में रहते थे, जो महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ की सीमा पर है। वहां से उठकर पश्चिम की ओर आए।

किसी गांव की बात निकलती है, तो पहला सवाल मन में यह आता है कि इस गांव के लोग कैसे जीते हैं? क्या है उनके जीवन-निर्वाह के साधन? खेती के साथ दूसरे कौन से धंधे वे करते हैं?

मेंढा गांव के लोग पहाड़ से नीचे आए खेती करने के लिए। लेकिन वहां खेती की जमीन ज्यादा नहीं है। फिर भी हर परिवार के पास जमीन है; कोई भूमिहीन नहीं है। खेती की मुख्य उपज है धान। मुख्यतः लुचाई किस्म बोई जाती है। लुचाई में भी कई किस्में हैं। उनमें लाल लुचाई और सफेद लुचाई (मजबी) मुख्य हैं। इनके सिवा भारी लुचाई, काकेरी, पिटे हिड्स्क, तोया, हलका सप्री, और पोहा बनाने के लिए उपयुक्त मानी जाने वाली भारी सप्री, ये किस्में भी बोई जाती हैं।

मेंढा गांव के लोग पहाड़ से नीचे आए खेती करने के लिए। लेकिन वहां खेती की जमीन ज्यादा नहीं है। फिर भी हर परिवार के पास जमीन है; कोई भूमिहीन नहीं है। खेती की मुख्य उपज है धान। मुख्यतः लुचाई किस्म बोई जाती है। लुचाई में भी कई किस्में हैं। उनमें लाल लुचाई और सफेद लुचाई (मजबी) मुख्य हैं। इनके सिवा भारी लुचाई, काकेरी, पिटे हिड्स्क, तोया, हलका सप्री, और पोहा बनाने के लिए उपयुक्त मानी जाने वाली भारी सप्री, ये किस्में भी बोई जाती हैं। इन दिनों ज्यादातर लोग 1010 या सोनम किस्में ही बो रहे हैं, क्योंकि वे उपज ज्यादा देती हैं। औसत उपज प्रति एकड़ तीन से चार क्विंटल रहती है। धान के अलावा तूर, मूंग, अरहर, खेसरी जैसी दालों का तथा अलसी जैसे तिलहन का उत्पादन भी लेते हैं। कुछ लोग सर्दी में चना भी उपजाते हैं। खेती की

उपज मुख्यतः घर में खाने के लिए ही काम आती है।

धान की खेती बारिश पर निर्भर है। सिंचन सुविधा न होने से एक बार ही फसल ली जाती है। लेकिन मेंढा के गांव से सटकर बहने वाली कठाणी नदी के किनारे सब्जियां पैदा करते हैं। इसे 'मरियाण' कहते हैं। धान की खेती और मरियाण के साथ मजदूरी भी की जाती है और वनोपज भी जीविका के काम आती है। मेंढा गांव की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है, उसका 1800 हेक्टेयर का बड़ा जंगल, जिसे उन्होंने प्रयत्न से संभाला है। इतने बड़े जंगल में स्वाभाविक रूप से ढेर सारे किस्म के पेड़, लताएं और घास हैं। उनकी सूची की जाय तो काफी लंबी होगी। मेंढा गांव ने जैवविविधता कानून 2002

के तहत अपना 'जैवविविधता रजिस्टर' बनाया है, उसमें इन सब की नोध की गई है— बांस, सागौन, महुआ, तेंदू, आंवला, हरड़ा, बेहड़ा, अर्जुन, ऐन, धावडा, खैर, चिरौंजी, सीवन, मोवई, चिलाटी... क्या-क्या गिनाएं?

स्वाभाविकतः जंगल उपजीविका का एक प्रमुख साधन बन गया है। दो तरह से— एक तो वनोपज मिलती है और दूसरी बात, जंगल में हुए कामों में मजदूरी मिलती है। वनोपज में मुख्य तो बांस ही है। उसके बाद नंबर आता है महुआ, तेंदू, चिरौंजी, गोंद, शहद, आंवला, हरड़ा, बेहड़ा, पापड़ी, करंज, मशरूम, इमली, लाख, बिबला आदि। महुआ, तेंदू, पाहूर, अंबाडी इनके फल, पत्ते, फूल— सभी का कुछ न कुछ उपयोग होता है। इनमें ज्यादातर वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य भी है। हर चीज की अलग-अलग बिक्री व्यवस्था खड़ी हो गई है। यह बात सिर्फ मेंढा में ही नहीं, राज्य के सभी जंगलों में पाई जाती है।

बांस की बात की जाए, तो लोग अपने निजी उपयोग के लिए बांस तोड़कर लाते आए हैं। लेकिन सरकार ने मेंढा के जंगल का बांस बल्लारपुर पेपर मिल को लंबी लीज पर दिया हुआ था। सरकार ने न केवल मेंढा के, बल्कि चंद्रपुर-गडचिरोली जिलों के जंगल का सारा बांस बल्लारपुर पेपर मिल को बेचा था। 1950 के दशक में चंद्रपुर में बल्लारपुर पेपर मिल बनी थी। यहां कारखाना बनाने का उद्देश्य एक ही था— बांस की भरपूर मात्रा में उपलब्धता। बांस ही मिल का मुख्य कच्चा माल था। सैंकड़ों एकड़ जंगल से बांस काटने की लंबी मुद्दत की लीज मिल को दी गई थी। जैसे-जैसे बांस कटने लायक हो जाता, मिल उसे कटवा लेती। सन् 1991 से 2001 के दरमियान मिल को बांस बेचा गया था 400 रुपए प्रति टन की दर से। एक टन में करीब 2400 मीटर बांस आता है। बांस की औसत लंबाई 7 मीटर मान लें, तो एक टन में करीब 350 बांस आते हैं। यानी एक बांस की कीमत हुई रुपए-सवा रुपए। और उस समय बाजार में बांस की कीमत थी दस से बारह रुपए। पेपर मिल को दो लाख टन बांस का आवंटन किया गया था।

नवंबर 1990 में मेंढा के लोगों के ध्यान में आया कि मिल के लोगों ने दूसरे किसी रास्ते से चुपचाप आकर उनके जंगल के बांस के पुंजों पर निशान किए हैं। यह कटाई की पूर्व तैयारी थी। इसे देखकर गांववाले सतर्क हुए। ग्रामसभा बुलाई गई और इस विषय पर चर्चा हुई। तय हुआ कि मिल को इस साल बांस काटने नहीं देना है। इस निर्णय के पीछे कई कारण थे। एक तो ग्रामसभा का प्रस्ताव था कि अपने जंगल की रक्षा करनी है और अपने क्षेत्र में किसी को बिना अनुमति काम करने नहीं देना है। दूसरी बात यह थी कि गांव वालों को बांस की जरूरत होने के बावजूद सरकार उसे मिल को दे रही थी। तीसरी बात यह थी कि मिल

अंधाधुंध तरीके से बांस काटती थी। छोटे और कोमल, अपक्व बांस भी काटती थी। कटाई के दौरान बांस के अंकुर भी नष्ट हो जाते। इस कारण जंगल में नए बांस पैदा होना ही कठिन हो जाता।

बांस का केवल किसान के ही नहीं, सभी लोगों के जीवन में काफी महत्व है। बांस से टोकरियां, अनाज रखने के लिए कोठार, सूप जैसी कई उपयोगी वस्तुएं तो बनती ही हैं; उसका उपयोग मकान आदि के निर्माण में, बाड़ बनाने में, मंडप बनाने में— हर

यह सही है कि बांस से कागज बनता है और कागज हरएक की जरूरत है। (यह लेख भी कागज पर ही तो छपा है।) लेकिन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किफायत से और सही तरीके से, विवेक रखकर करना चाहिए। इसीलिए मेंढा का कहना था कि गांव वालों की जरूरतों की पूर्ति के बाद ही बांस मिल को दिया जाए;

कहीं होता है। इसीलिए तो उसे 'कल्पवृक्ष' कहते हैं। यह कोई महज आलंकारिक भाषा नहीं, बल्कि वस्तुस्थिति का बखान है। और पेपर मिल उसकी सिर्फ लुगदी बनाती थी। इतना ही नहीं, इस कच्चे माल की आपूर्ति होती रहे, इसके लिए अच्छा बुरा जो करना पड़े, वह करने की हिचकती नहीं थी। यह सिर्फ चंद्रपुर-गडचिरोली की बात नहीं है। जहां कहीं भी पेपर मिल है, वहां यह होता आया है। पर्यावरण वैज्ञानिक माधव गाडगिल ने बताया है कि कर्नाटक के दांडेली पेपर मिल ने कारवार जिले का बांस 1958 से 1973 के दरमियान बेतहाशा कटाई कर खत्म कर दिया। वहां भी मिल के मजदूर बांस के तने के निचले

हिस्से पर रहने वाला कंटीला आवरण जानबूझकर काट डालते थे, जिससे बांस के अंकुर सूख जाते और चंद सालों में बांस खत्म हो जाते। गांव वाले ऐसा नहीं करते थे, वे बांस के तने का ऊपरी हिस्सा ही काटते थे, जिससे बांस जिंदा रहता था।

यह सही है कि बांस से कागज बनता है और कागज हरएक की जरूरत है। (यह लेख भी कागज पर ही तो छपा है।) लेकिन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किफायत से और सही तरीके से, विवेक रखकर करना चाहिए। इसीलिए मेंढा का कहना था कि गांव वालों की जरूरतों की पूर्ति के बाद ही बांस मिल को दिया जाए; जहां तक हो सके, सूखे टुकड़े दिए जाएं, उनकी उचित कीमत मिले; और अंधाधुंध, अवैज्ञानिक कटाई से जंगलों का स्थाई नुकसान न किया जाए। क्या यह मांग वाजिब नहीं है? इतनी सीधी सादी बात के लिए लोगों को इतना झगड़ना क्यों पड़ना चाहिए? लेकिन बात यह है कि भले ही लोकतांत्रिक व्यवस्था हो, वह हित तो अमीर और प्रतिष्ठित लोगों का ही देखती है। मेंढा गांव का आग्रह इतना ही था कि लोगों के हित को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

यह सब हो रहा था, उसी समय मेंढा अपने सामाजिक राजनीतिक संगठन की— 'हमारे गांव में हम ही सरकार' की प्रक्रिया भी आगे बढ़ा रहा था। यह प्रक्रिया जैसा उसका नाम ही बताता है— एक राजनीतिक प्रक्रिया है। हम मेंढा गांव की कहानी समझना चाहते हैं, वह इस प्रक्रिया के कारण। जलग्रहण क्षेत्र-विकास या जंगल-रक्षा के काम महाराष्ट्र में कम नहीं हुए हैं। ग्रामसफाई या 'तंटामुक्ति' (झगड़ों से मुक्ति) अभियानों में शामिल हो कर 'आदर्श' कहलाए गए गांव भी कई हैं। मेंढा की विशेषता है, वहां की राजनीतिक प्रक्रिया। दूसरे शब्दों में कहना हो, तो उसने एक अलग तरह की राजनीति चलाई। इसलिए, गांव के विकास की बात करते समय भी यह राजनीतिक सूत्र हमें कभी नजरअंदाज नहीं करना चाहिए।

किसी व्यवस्था को जब हम 'सरकार' कहते हैं तब उसका स्वरूप कैसा रहता है? 'सरकार' व्यवस्था में मुख्यतः तीन प्रक्रियाएं होती हैं। पहली, निर्णय-प्रक्रिया। सरकार निर्णय लेती है। यह उसका प्रमुख काम है। हम केंद्र या राज्य सरकार को देखते हैं, तब पाते हैं कि वह हर चीज के बारे में हरदम निर्णय लेती

रहती है। दूसरे शब्दों में सरकार को परिभाषित ही यूं किया जा सकता है कि 'जो निर्णय लेती है वही सरकार'। दूसरी बात है, नियम और कानूनों की रचना। लोकतंत्र में लोगों द्वारा निर्वाचित विधान-मंडल कानून बनाते हैं। कानून का अर्थ ही है, शासन। तीसरी बात है, निर्णयों को अमल में लाने वाली रचना, जिसे हम नौकरशाही कहते हैं। सरकार में विभिन्न विभाग होते हैं, जिनके मार्फत नीतियां और कार्यक्रम अमल में लाए जाते हैं।

मेंढा गांव जब कहता है कि 'हमारे गांव में हम ही सरकार' तब इस संदर्भ में उसका क्या अर्थ होता है? ऊपर कही गई तीन प्रक्रियाएं वहां किस तरह चलती हैं? पहली बात है, निर्णय-प्रक्रिया। आज की लोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्था बहुमत के आधार पर निर्णय लेती है। निर्णय कहीं भी, किसी भी स्तर पर लेना हो, वह बहुमत के आधार पर ही लिया जाए, यह तय है। चुनाव में जीतता कौन है? जिसे सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं। विधानमंडलों में प्रस्ताव कब पारित होता

किसी व्यवस्था को जब हम 'सरकार' कहते हैं तब उसका स्वरूप कैसा रहता है? 'सरकार' व्यवस्था में मुख्यतः तीन प्रक्रियाएं होती हैं। पहली, निर्णय-प्रक्रिया। सरकार निर्णय लेती है। यह उसका प्रमुख काम है। हम केंद्र या राज्य सरकार को देखते हैं, तब पाते हैं कि वह हर चीज के बारे में हरदम निर्णय लेती रहती है। दूसरे शब्दों में सरकार को परिभाषित ही यूं किया जा सकता है कि 'जो निर्णय लेती है वही सरकार'।

है? जब उसके समर्थन में ज्यादा हाथ उठते हैं। छोटे गुटों में भी— फिर वह कोई कार्यालय हो या हाउसिंग सोसायटी, या फिर दूसरा कोई समूह—निर्णय बहुमत के आधार पर ही लिया जाता है। इस तत्व से अब हम अभ्यस्त हो चुके हैं। सरकारी और गैरसरकारी, सभी स्तरों पर यही सिद्धांत अमल में लाया जाता है।

लेकिन मेंढा में सरकार चलती है सर्वसहमति के सिद्धांत के आधार पर। यह बात मेंढा में आई कैसे? यह बात वहां परंपरा से थी, हालांकि निर्णयों में स्त्रियों की भागीदारी नहीं होती थी। मोहन और देवाजी ने जब गांव का संगठन

नए सिरे से शुरू किया, तब स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित की गई, और निर्णय-प्रक्रिया सही अर्थ में सर्वसहमति की प्रक्रिया बन गई। सर्वसहमति की यह आधुनिक कल्पना विनोबा की 'सर्वायतन' संकल्पना से उपजी है।

राजनीतिक विचारों की छानबीन करते समय विनोबा कहते हैं कि सत्ता तीन प्रकार की हो सकती है। पहला प्रकार है एकायतन, जिसमें सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है— जैसे राजाओं के जमाने में होता था। दूसरा प्रकार है, अनेकायतन— जिसमें अनेक लोग मिलकर सत्ता चलाते हैं। तीसरा प्रकार है सर्वायतन, जिसमें सब लोग मिलकर सत्ता चलाते हैं। क्या आज हमारा लोकतंत्र सर्वायतन कहने योग्य है? विनोबा कहते हैं, ऐसा दावा जरूर किया जाता है, लेकिन वह सही नहीं है। कारण निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं। सर्वायतन, यानी सबकी सत्ता, आज कहीं भी अस्तित्व में नहीं है; वह निर्माण करनी

**‘हमारे गांव में हम ही सरकार’
कहना ठीक है, लेकिन वह
सरकार किन सिद्धांतों के आधार
पर चले, यह अहम मुद्दा है।
बहुमत के आधार पर सरकार को
संगठित किया जा सकता है;
आज ग्रामपंचायत और ग्रामसभा
में यही हो रहा है। मेंढा गांव
की विशेषता यह है कि उसने
सरकार-निर्माण की प्रक्रिया की
बुनियाद ही बदल डाली। दूसरे
शब्दों में, सत्ता का अधिष्ठान ही
बदल डाला। राजनीतिक विचार
में यह काफी आगे जाने
वाला कदम है।**

होगी। अगर यह करना हो तो राष्ट्र में व्यापक बंधुभाव होना चाहिए, सबके समान विकास की दृष्टि होनी चाहिए, और शासन तथा प्रशासन कम-से-कम होना चाहिए। सबका परस्पर सहयोग होना चाहिए; और वह भी पूरे दिल से, स्वाभाविक और ज्ञानपूर्वक। यहां 'ज्ञानपूर्वक' शब्द का महत्व है, क्योंकि इस राज्य व्यवस्था के लिए ज्ञान का सतत और मुक्त संचार एक जरूरी शर्त है। बिना पूरा सोचे, मजबूरी से या किसी के कहने से लोग एकत्र होते हों, तो उसमें सार नहीं। पूरी समझ के साथ, पूरे दिल से और अहिंसा के आधार पर

सहयोग होना चाहिए। विनोबा अपनी अनोखी शैली में कहते हैं, 'गांव का हर किसान अपने में बादशाह होना चाहिए।' इस एक वाक्य में उनके पूरे विचार का सार आ जाता है।

सर्वोदय का यह विचार मेंढा में दाखिल होने से, गांव की एकमत से निर्णय लेने की जो आदिवासी परंपरा थी, उसको एक आधुनिक राजनीतिक विचार की मजबूत बुनियाद मिली। 'हमारे गांव में हम ही सरकार' कहना ठीक है, लेकिन वह सरकार किन सिद्धांतों के आधार पर चले, यह अहम मुद्दा है। बहुमत के आधार पर सरकार को संगठित किया जा सकता है; आज ग्रामपंचायत और ग्रामसभा में यही हो रहा है। मेंढा गांव की विशेषता यह है कि उसने सरकार-निर्माण की प्रक्रिया की बुनियाद ही बदल डाली। दूसरे शब्दों में, सत्ता का अधिष्ठान ही बदल डाला। राजनीतिक विचार में यह काफी आगे जाने वाला कदम है।

मेंढा गांव सिर्फ 'हमारे गांव में हम ही सरकार' यह घोषणा करके या कुछ नियम बनाकर ही रुक नहीं गया है। अपना कारोबार चलाने के लिए उसने विभिन्न रचनाओं का निर्माण भी किया है। लेकिन उसमें से कोई भी रचना नौकरशाही जैसी नहीं है। किसी भी समिति का खुद का कार्यालय नहीं है। मेंढा में जब संयुक्त वन-प्रबंध कार्यक्रम चला, तब उसके तहत एक समाज-मंदिर का निर्माण हुआ। बाद में डॉ. गंगाधर महीवार ट्रस्ट की मदद से ग्रामसभा ने तीन कमरे बनाए। यह समाज-मंदिर और कमरे विभिन्न कार्यक्रमों के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। ग्रामसभा के कागज उन्हीं में रखी अलमारियों में रखे गए हैं। फिर भी इन समितियों के कार्यालय उन कमरों में हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन समितियों का इस अर्थ में औपचारिक स्वरूप नहीं है। समितियां यानी लोग ही हैं। लोगों की विभिन्न रचनाएं विभिन्न जिम्मेवारियां निभाती हैं।

'हमारे गांव में हम ही सरकार' इस घोषणा से जो प्रक्रियाएं निकलीं, उनमें से एक के कारण हाल ही में गांव को 2006 के वन-अधिकार कानून द्वारा गांव के जंगल पर अधिकार मिल गया। संसद द्वारा सन् 2006 में 'अनुसूचित जमातों और अन्य परंपरागत वन-निवासी (वन-अधिकारों को मान्यता) कानून' बनना एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस कानून के पीछे यह भूमिका थी कि आदिवासियों पर वन-जमीन के संदर्भ में ऐतिहासिक अन्याय हुआ है, और वह दूर करने के लिए यह कानून बनाया जा रहा है। जैसा हमने पहले देखा, ब्रिटिश राज में जंगल सरकारी नियंत्रण में ले लिए गए और उससे वनों में परंपरा से रहते आए लोग बेदखल हुए। आजादी मिलने के बाद भी यह परिस्थिति नहीं बदली। जंगलों का उपयोग करने वाले या उनमें खेती करने वाले लोगों का अतिक्रमण माना गया।

जिस जमीन पर वे पीढ़ियों से काश्त करते आए थे, उस जमीन पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त करने के लिए आदिवासी लड़ते आए। विस्थापन के खिलाफ लड़ते आए। वन क्षेत्र में इस कारण से हमेशा तीव्र असंतोष बना रहा। उसे दूर करने के लिए वन-अधिकार कानून 2006 बनाया गया।

इस कानून का मुख्य प्रावधान यह है कि जो आदिवासी या वन-निवासी 13 दिसंबर 2005 के पहले खेती करते आए हैं, वे अपना दावा गांव की वन-अधिकार समिति की सिफारिश के साथ, उपविभागीय स्तर पर बनी सरकारी समिति को पेश करें। इसके लिए अलबत्ता वन-अधिकार समिति गांव-स्तर पर पहले गठित करनी होगी। उपविभागीय समिति उस दावे की जांच करेगी और उसके बाद दावा जिला समिति को भेजेगी, जो अंतिम निर्णय लेगी। दावा मंजूर होने पर, दावा करने वाले को जिलाधिकारी से स्वामित्व का प्रमाणपत्र मिलेगा। यह बेशक व्यक्तिगत स्वामित्व होगा। लेकिन कानून में सामूहिक स्वामित्व का दावा करने का भी प्रावधान है। सामूहिक उपयोग की जमीन पर सामूहिक स्वामित्व इससे प्राप्त किया जा सकता है।

मेंढा में जंगल-जमीन पर खेती करने वाले कुछ किसान थे, लेकिन उन्हें स्वामित्व-अधिकार नहीं था। तय हुआ कि उनके दावे दाखिल किए जाएं। देशभर में इसी प्रकार के दावे दाखिल हो रहे थे। लेकिन मेंढा के लोगों के ध्यान में आया कि निस्तार अधिकार का जंगल सामूहिक है, तो उस पर सामूहिक स्वामित्व का दावा पेश करना होगा। और, जैसी उनकी रीति रही है, उन्होंने कानून का बारीकी से अध्ययन करना शुरू किया। सबसे पहले ग्रामसभा में कानून पढ़ा गया। इस काम में मोहन के अलावा सुबोध कुलकर्णी नाम के कार्यकर्ता की मदद मिली। सुबोध इंजिनियर हैं और उनकी पत्नी किरण कुलकर्णी महाराष्ट्र की प्रशासनिक सेवा में अधिकारी हैं। जब उनका उपजिलाधिकारी के रूप में गड़चिरोली में तबादला हुआ, तब सुबोध उनके साथ गड़चिरोली रहने आए। और एक सहयोगी मित्र के नाते उन्होंने खुद को मेंढा गांव से जोड़ लिया।

सरकार ने यह कदम वन-निवासियों पर हुए अन्याय को दूर करने के लिए उठाया था। इसलिए इस कानून की जानकारी लोगों तक पहुंचाने के लिए वह खुद प्रयास कर रही थी। आकाशवाणी, दूरदर्शन और अखबारों के माध्यम से यह प्रयास हो रहा था। साथ ही गांव-गांव में बस अड्डा या दूसरे महत्व के स्थानों पर इश्तेहार लगाए जा रहे थे। यह कानून भारत सरकार के आदिवासी विकास विभाग द्वारा किया गया था, इसलिए उसके अमल के सूत्र राज्य स्तर के आदिवासी विकास विभाग के हाथ में थे। पुणे का आदिवासी शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान इस प्रचार-प्रसार का संयोजन कर रहा था। वह इस संदर्भ में कार्यशालाएं

आयोजित कर रहा था। इन कार्यशालाओं में मोहन, देवाजी, सुबोध शरीक हुए। कानून क्या है, यह उन्होंने अच्छी तरह से जान लिया। यह कानून संसद ने 18 दिसंबर 2006 को बनाया था, और उसे राष्ट्रपति की मंजूरी 29 दिसंबर 2006 को मिली थी। लेकिन उसके तहत नियम 1 जनवरी 2008 को बने। इस दरमियान कानून के बारे में प्रचार-प्रसार को अवसर मिला।

मेंढा के लोगों ने कार्यकर्ता-मित्रों के ज्ञान का अच्छा लाभ उठाया। उन्होंने कानून को गहराई से समझ लिया। कानून का लाभ उठाने के लिए कौन से कदम उठाने होंगे, इस पर विचार किया। मेंढा में सब लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते, इसलिए उन्होंने कानून 'सुना'। जो बात समझ में नहीं आई, उस पर उन्होंने प्रश्न पूछे और कार्यकर्ताओं से शंकाओं का समाधान कर लिया। सरकारी कागज का डर उनके मन से पहले ही निकल गया था। कागज पर क्या लिखा है यह जान लिया, तो फिर कागज का डर चला जाता है— फिर कोई अनपढ़ ही क्यों न हो।

मेंढा के ध्यान में यह बात पक्की आ चुकी कि जिस निस्तार-वन को वे सालों से संभालते आए थे, उसके व्यवस्थापन का अधिकार प्राप्त करने का यह सुअवसर है। अध्ययन से वे जान गए थे कि स्वामित्व से व्यवस्थापन का अधिकार ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह कानून जंगल पर स्वामित्व नहीं देता, सिर्फ गौण वनोपज पर स्वामित्व देता है। वन-व्यवस्थापन के अधिकार का दावा अलग से करना पड़ता है। सिर्फ स्वामित्व अधिकार किस काम का? वैसा तो भारत के सभी प्राकृतिक संसाधनों पर भारत की जनता का स्वामित्व है ही। लेकिन क्या उनके व्यवस्थापन का अधिकार है? स्वामित्व जनता का और व्यवस्थापन कर रहे हैं वन विभाग या खानगी कंपनियां। इससे जनता सक्षम नहीं होती। इस तरह व्यवस्थापन का अधिकार अनौपचारिक स्वामित्व से ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह कानून इसी दृष्टि से बनाया गया है। मेंढा के अध्ययन में आया कि निस्तार अधिकार के बावजूद जंगल के व्यवस्थापन का अधिकार उनके हाथ में नहीं था। इसीलिए सरकारी वन विभाग और दूसरों के साथ भी झगड़े होते रहते थे। अगर अधिकार निःसंदिग्ध रूप में प्राप्त होता है, तो जंगल की रक्षा

मेंढा गांव सिर्फ 'हमारे गांव में हम ही सरकार' यह घोषणा करके या कुछ नियम बनाकर ही रुक नहीं गया है। अपना कारोबार चलाने के लिए उसने विभिन्न रचनाओं का निर्माण भी किया है। लेकिन उसमें से कोई भी रचना नौकरशाही जैसी नहीं है। किसी भी समिति का खुद का कार्यालय नहीं है। मेंढा में जब संयुक्त वन-प्रबंध कार्यक्रम चला, तब उसके तहत एक समाज-मंदिर का निर्माण हुआ।

तथा देखभाल बिना दिक्कत के की जा सकेगी। इतना ही नहीं, जंगल-आधारित आजीविका प्राप्त करने की दृष्टि से भी इसकी मदद होगी। इसलिए व्यक्तिगत दावे तो अवश्य पेश किए जाएं, लेकिन सामूहिक दावा भी अवश्य पेश किया जाए।

यह निर्णय हुआ और कानून के अनुसार कदम उठाना तय हुआ। मेंढा के साथ मारदा गांव में भी— जहां नितिन और मंदा काम कर रहे थे— सामूहिक दावा करने का निर्णय लिया।

मेंढा और मारदा, इन दोनों गांवों के दावे सही थे और वह कानून की कसौटियों पर खरे उतरते थे। इसलिए जिला समिति ने ये दावे मंजूर किए। 15 अगस्त 2009 को जिलाधिकारी और पालक मंत्री ने पत्रपरिषद लेकर इसका ऐलान किया। मेंढा का 1809 हेक्टेयर जंगल पर तथा मारदा का करीब 900 हेक्टेयर जंगल पर अधिकार मान्य हुआ। 28 अगस्त 2009 को अधिकार पत्र पर मुहर लगी। महाराष्ट्र के राज्यपाल ने 15 दिसंबर 2009 में गड़चिरोली में आकर अधिकार पत्र लोगों को सौंपा।

यह एक ऐतिहासिक घटना थी। पूरे देश में पहली बार सामूहिक दावे गड़चिरोली जिले में मंजूर हुए थे। सामूहिक अधिकार पाने वाला मेंढा पहला गांव था और मारदा दूसरा। इस विशेष कार्य के लिए बाद में जिलाधिकारी को राष्ट्रपति के हाथों राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। जिस अधिकार के लिए मेंढा तीस सालों से संघर्ष कर रहा था, उस पर भारतीय संविधान ने मुहर लगाई। लोगों का जंगल पर अधिकार साबित हुआ। आदिवासियों पर हुए ऐतिहासिक अन्याय का एक हद तक परिमार्जन हुआ।

इस घटना में मेंढा गांव एकदम प्रकाश में आया। मेंढा के सामूहिक वन-अधिकार को मान्यता तो मिली, लेकिन सवाल खड़ा हुआ कि अब आगे क्या किया जाए। किस तरह वह अमल में आए? इस संबंध में सरकारी स्तर पर कोई स्पष्टता नहीं थी। वन विभाग तो पहले से ही लोगों को जंगल पर अधिकार देने के लिए राजी नहीं था। वन-अधिकार कानून जब पारित हुआ, तब वन अधिकारियों ने उसके खिलाफ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रचार किया था। वन्यजीव-रक्षा के लिए काम करने वाली संस्थाओं को साथ लेकर उन्होंने कुप्रचार शुरू किया कि जंगल अगर लोगों को सौंपे गए तो वे उन्हें काटकर खत्म कर देंगे। बाघ जैसे वन्य पशु तो क्या, पेड़ भी नहीं टिकेंगे। जंगल वन विभाग के अधिकार में रहें तो ही सुरक्षित रह सकेंगे।

अब मेंढा की लड़ाई का दूसरा चरण शुरू हुआ। बांस और दूसरी गौण वनोपज पर मिला स्वामित्व-अधिकार सिर्फ कागज पर ही था; उसे अमली जामा

पहनाना बाकी था। मुख्य सवाल था बांस का। मेंढा के जंगल में बांस पककर तैयार हुआ था। उसे बेचने का और बिक्री से होने वाली आय प्राप्त करने का अधिकार अब मेंढा की ग्रामसभा को था। लेकिन वन विभाग इसके आड़े आ रहा था। अब उसने एक नया ही मुद्दा उपस्थिति किया। वह कहने लगा कि वन-अधिकार कानून से लोगों को जो अधिकार मिला है वह गौण वनोपज पर ही है। इमारती लकड़ी पर नहीं है; और भारतीय वन अधिनियम 1927 के अनुसार बांस इमारती लकड़ी का प्रकार है, घास का नहीं। वन विभाग ने पूरे देश में इस भूमिका को लेकर प्रचार अभियान चलाया। दिल्ली और दूसरे बड़े शहरों में सभा सेमीनार आयोजित किए। टी.वी. और अखबारों के जरिए भी प्रचार चलाया। वन्यजीव-रक्षा के लिए काम करने वाली संस्थाएं तथा कार्यकर्ता इसमें शामिल हुए। अपने समर्थ में उन्होंने कुछ जीव-वैज्ञानिकों की राय भी जुटा दी।

बांस को लकड़ी कहें या घास, यह कोई मुद्दा नहीं था। वन अधिकार कानून के प्रकरण एक में दी हुई परिभाषा में धारा-2 झ में साफ कहा था कि 'गौण वनोपज यानी, बांस, शहद, मोम, लाख, तेंदू, कंदमूल, औषधी वनस्पति आदि सब वनोपज, जो इमारती लकड़ी नहीं है। यानी बांस का समावेश गौण वनोपज में किया गया था। कानून में इतनी स्पष्टता होने के बावजूद वन विभाग अड़ंगे लगा रहा था, गैरजरूरी विवाद पैदा कर रहा था। बांस वन विभाग की आमदनी का मुख्य जरिया है और वन विभाग को डर था कि कहीं यह जरिया खत्म न हो जाए।

वन विभाग ने अड़ंगा लगाया, वह प्रत्यक्ष बिक्री के लिए नहीं। बांस को दूसरी जगह ले जाने के लिए अनुमति पत्र की जरूरत होती है— जिसे अंग्रेजी में ट्रांसिजिट पास (टी.पी.) कहते हैं। वन विभाग ने यह टी.पी. देने से मना किया। इसका मतलब था, कोई व्यापारी या कारीगर मेंढा गांव से बांस खरीदने पर भी उसे गांव से बाहर नहीं ले जा सकता। एक तरह से यह बिक्री पर पाबंदी ही तो थी। 26 जनवरी 2011 को धानोरा के नंदकिशोर चंदेल ने 25 रुपए प्रति नग के हिसाब से 25 बांस खरीदे। धानोरा के ही व्यापारी ललित बरछा ने 2000 बांस की मांग की। ग्रामसभा ने इसे मंजूर किया और दोनों को पत्र द्वारा सूचित किया। उन्होंने यह पत्र धानोरा की रेंजर कचहरी में पेश किए और टी.पी. की मांग की।

सुनीता नारायण ने मेंढा से एक बांस खरीदा और सीधे केंद्रीय वनमंत्री जयराम रमेश से मिलकर टी.पी. की मांग की। कहा कि कानून से आपने गांव को अधिकार दिया है, तो फिर टी.पी. भी देना ही पड़ेगा। अगर स्थानीय वन-अधिकारी न दे रहे हों, तो आप दीजिए!

लेकिन रेंजर ने टी.पी. देने से इनकार किया और कहा कि बांस की बिक्री गैरकानूनी है और उसके खिलाफ कार्रवाई की जाएगी।

मेंढा ने अब यह सवाल राष्ट्रीय स्तर पर उठाना तय किया। दिल्ली के सेंटर फॉर सायन्स एवं एनवायरनमेंट ने इसके लिए मदद की। संस्था की संचालिका सुनीता नारायण ने मेंढा से एक बांस खरीदा और सीधे केंद्रीय वनमंत्री जयराम रमेश से मिलकर टी.पी. की मांग की। कहा कि कानून से आपने गांव को अधिकार दिया है, तो फिर टी.पी. भी देना ही पड़ेगा। अगर स्थानीय वन-अधिकारी न दे रहे हों, तो आप दीजिए!

वनमंत्री का यह इरादा जानकर वन विभाग सकते में आ गया। जब विभाग का मंत्री आदेश दे रहा हो, तब तो वह बात करनी ही पड़ेगी। केंद्रीय वनमंत्री ने 27 अप्रैल 2011 का दिन मुकर्रर किया, मेंढा में आकर ग्रामसभा को टी.पी. की पुस्तिका देने के लिए। उन्होंने महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री को भी साथ लाने का सोचा।

मेंढा यह बात केवल दिल्ली तक नहीं ले गया। उसने अपने क्षेत्र के विधायक से भी संपर्क किया और कहा कि विधायक तथा हमारे प्रतिनिधि होने के नाते आप यह बात उठाएं। यह कानून तो आपके ही दल ने पारित किया है। स्थानीय विधायक डॉ. नामदेव उसेंडी फिर मेंढा में आए। उनकी उपस्थिति में 15 फरवरी 2011 को ग्रामसभा की बैठक हुई। उसके पहले दिन गांव के सब लोग एक-एक बांस तोड़कर लाए थे। विधायक आदिवासी ही थे, और मेंढा की समस्या जानते थे। उन्होंने कहा, मैं खुद एक बांस खरीदता हूं और टी. पी. मांगता हूं। उन्होंने नकद रकम देकर बांस खरीदा। इसकी बाकायदा रसीद भी उन्हें दी गयी। फिर उन्होंने बांस लेकर जाने की

अनुमति वन-अधिकारियों से मांगी। वन-अधिकारियों ने न केवल इससे इनकार किया, बल्कि बिना-अनुमति बांस खरीदने के लिए उन पर केस दायर करने की धमकी दी! वन-विभाग कितना निर्मम हुआ था, दुश्मनी पर उतर आया था, इसका यह उदाहरण था। सत्ता पक्ष के विधायक के खिलाफ ऐसी भूमिका लेने में भी उसे हिचकिचाहट नहीं थी!

अब अखबारों में यह बात चर्चा का विषय हो गई थी। न केवल स्थानीय अखबार बल्कि राष्ट्रीय अखबारों ने भी इस अजीब भूमिका के लिए सरकार को आड़े हाथों लेना शुरू किया था। आखिर दिल्ली में इस संदर्भ में किए गए प्रयासों का परिणाम हुआ। केंद्रीय वनमंत्री ने अप्रैल 2011 में सब

राज्यों को पत्र लिखकर आदेश दिया कि स्थानीय लोगों को गौण वनोपज का— जिसमें बांस भी शामिल है— स्वामित्व दिया जाए। लेकिन वन विभाग ने इस आदेश को भी कचरे की टोकरी में डाल दिया। वनमंत्री ने फिर खुद मेंढा में आना तय किया।

वनमंत्री का यह इरादा जानकर वन विभाग सकते में आ गया। जब विभाग का मंत्री आदेश दे रहा हो, तब तो वह बात करनी ही पड़ेगी। केंद्रीय वनमंत्री ने 27 अप्रैल 2011 का दिन मुकर्रर किया, मेंढा में आकर ग्रामसभा को टी.पी. की पुस्तिका देने के लिए। उन्होंने महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री को भी साथ लाने का सोचा। फिर जिले के वन अधिकारियों ने मेंढा के लोगों से और कार्यकर्ताओं से संपर्क किया, और शानदार समारोह करने की तैयारी की! अखबारों में बड़े-बड़े इश्तेहार दिए गए। सबको बुलाया गया। और फिर वह समारोह हुआ, जिसका जिक्र आरंभ में किया गया है।

फिर मेंढा ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। चूंकि मेंढा के बांस की गुणवत्ता अच्छी थी, व्यापारी उसे खरीदने के लिए उत्सुक थे ही। लेकिन बांस की कटाई तथा बिक्री की व्यवस्था निर्माण करना जरूरी था। मेंढा ग्रामसभा ने इस हेतु 'सामूहिक वन-व्यवस्थापन कार्यकारी समिति' गठित की। उसमें आठ पुरुष और तीन महिलाओं को लिया गया। अध्यक्ष पद पर युवा नरेश कुमोटी को नामजद किया गया। नरेश गांव के युवक मंडल, अर्थात् गोदूल समिति के प्रमुख थे। चरणदास नामक छात्र को सचिव बनाया गया। देवाजी समिति में नहीं थे। दुक्कू तोफा और रघु करंगामी, इन दो बुजुर्गों को छोड़कर बाकी सब सदस्य युवा थे। धानोरा की स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में समिति का अलग खाता खोला गया, क्योंकि अब बड़ी रकमों का लेन-देन जो होने वाला था।

मेंढावासियों ने टी.पी. का मुद्दा केवल सांकेतिक रूप से नहीं उठाया था। जंगल में करीब अस्सी हजार से एक लाख बांस कटने के लिए तैयार थे। उन्हें तोड़ना और बेचना जरूरी था। समिति ने इसके लिए कदम उठाए। मध्यप्रदेश के हरदा के व्यापारी श्री वीरेंद्र कुमार आनंद ये बांस खरीदने के इच्छुक थे। मई 2001 में बांस-कटाई करना तय हुआ। बांस की कीमत प्रति नग 23 रुपए निर्धारित की गई। गांव वालों को बांस काटने की मजदूरी प्रति नग 8 रुपए और ढुलाई 1 रुपए देना तय हुआ। इसके अनुसार मई-जून में बांस काटा गया। टी.पी. पुस्तिका अब ग्रामसभा के पास ही थी, सो कोई दिक्कत नहीं थी। टी.पी. पुस्तिका लेते समय ग्रामसभा वन विभाग को उसका शुल्क अदा कर चुकी थी। कुल 89,882 बांस काटे गए और 112 परिवारों के 167 लोगों ने यह काम किया। मजदूरों में बहुसंख्य मेंढा के थे, लेकिन पड़ोस के लेखा

और तुकूम गांवों के भी कुछ लोग थे। मेंढा को बांस बेचने से 21,50,000 की आमदनी हुई। लोगों को मजदूरी 8,08,938 रुपए मिली। गांव के नियम के अनुसार इसका 10 प्रतिशत हिस्सा गांव फंड में जमा किया गया और प्रत्यक्ष मजदूरी 726,627 रुपए दी गई। हर मजदूर को करीब आठ दिन के काम से 4350 रुपए मजदूरी मिली। गांव फंड में 80,893 रुपए जमा हुए। सरकार को मूल्याधारित कर, यानी वैट, बाकायदा अदा किया गया। ठेकेदार को जो पैसे दिए गए वे कर यानी टी.डी.एस. काटकर दिए गए। इसके लिए मेंढा ग्रामसभा ने आयकर विभाग में पंजीकरण करवाकर 'पॅन' और 'टॅन' क्रमांक प्राप्त किए हैं। बिक्रीकर विभाग से 'वैट' क्रमांक भी लिया गया है। कानूनी जरूरतों की पूर्ति एक छोटे से गांव ने आसानी से की।

यह सब पढ़कर कोई सोचेगा कि मेंढा एक आदर्श गांव है, और महाराष्ट्र के दूसरे आदर्श गांव जिस तरह पर्यटन केंद्र बने हैं, उस तरह मेंढा भी बना होगा। लेकिन कोई इस दृष्टि से वहां गया तो उसके पल्ले निराशा ही आएगी। मेंढा महाराष्ट्र के दूसरे किसी गांव जैसा एक सामान्य गांव है। वहां का दैनंदिन जीवन वैसा ही है, जैसा आम तौर पर गांवों में होता है। सुबह होते ही मुर्गे बांग देते हैं, पक्षी चहचहाते हैं, जानवरों को खुला छोड़ा जाता है, कुंओं पर पानी भरने के लिए लोग उमड़ते हैं। सब लोग अपने-अपने कामों में व्यस्त हो जाते हैं। सुबह दस-ग्यारह बजे आपको गांव में कोई नहीं मिलेगा। वैसे भी यह गांव शांत, सुस्त लगता है। शाम को कुछ चहल-पहल रहती है, लेकिन दूसरे गांवों में जैसे चबूतरे, मंदिर दीखते हैं, और वहां लोग मिलते हैं, वैसे मेंढा में नहीं है। मेंढा के पास लोगों को दिखाने के लिए कुछ नहीं है। गांव में किसी स्वयंसेवी संस्था की इमारत, प्रशिक्षण केंद्र या परिसर नहीं है। मेंढा में जो कुछ हुआ है, वह वहां के लोगों ने अपना जीवन आसान करने के लिए किया है। नारेबाजी के लिए नहीं।

सन् 1979 में संघर्ष वाहिनी के माध्यम से समाज के व्यापक कामों में उतरे श्री मिलिंद बोकिल मराठी के एक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। उनके उपन्यास 'शाला' पर बनी एक फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला है।

मराठी से हिन्दी अनुवाद श्री पराग चोलकर ने किया है। वे भूदान आंदोलन के इतिहासकार हैं और मराठी तथा हिन्दी में साधिकार लिखते हैं।



जड़ें

अनुपम मिश्र

कुछ शब्द ऐसे हैं कि वे हमारा पीछा ही नहीं छोड़ते। क्या-क्या नहीं किया हमने उन शब्दों से पीछा छुड़ाने के लिए। तब तो हम गुलाम थे। फिर भी हमने गुलामी की जंजीरों को तोड़ने की कोशिश के साथ ही अपने को दुनिया की चालू परिभाषा के हिसाब से आधुनिक बनाने का भी रास्ता पकड़ने के लिए परिश्रम शुरू कर दिया था। आजाद होने के बाद तो इस कोशिश में हमने पंख ही लगा दिए थे। हमने पंख खोले पर शायद आंखें मूंद लीं। हम उड़ चले तेजी से, पर हमने दिशा नहीं देखी।

अब एक लंबी उड़ान शायद पूरी हो चली है और हमें वे सब शब्द याद आने लगे हैं, जिनसे हम पीछा छुड़ा कर उड़ चले थे। अभी हम जमीन पर उतरे भी नहीं हैं लेकिन हम तड़पने लगे हैं, अपनी जड़ों को तलाशने।

यों जड़ें तलाशना, जड़ों की याद अनायास आना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन इस प्रयास और याद से पहले हमें इससे मिलते-जुलते एक शब्द की तरफ भी कुछ ध्यान देना होगा। यह शब्द है— जड़ता। जड़ों की तरफ मुड़ने से पहले हमें अपनी जड़ता की तरफ भी देखना होगा, झांकना होगा। यह जड़ता आधुनिक है। इसकी झांकी इतनी मोहक है कि इसका वजन ढोना भी हमें सरल लगने लगता है। बजाय इसे उतार फेंकने के, हम इसे और ज्यादा लाद लेते हैं अपने ऊपर।

जड़ता हटे थोड़ी भी तो पता चले कि बात सिर्फ जड़ों की नहीं है। शायद तने की है, डगालों, शाखाओं, पत्तियों तक की है। हमारा कुल जीवन, समाज यदि एक विशाल वृक्ष होता, उसका एक भाग होता, तो जड़ों से कटने का सवाल भी कहां उठता। अपनी जड़ों से कटे तने, शाखाएं, पत्तियां दो-चार दिनों में मुरझाने लगती हैं। पर हमारा आधुनिक विकसित होता जा रहा समाज तो अपनी जड़ों से कट कर एक दौर में पहले से भी ज्यादा हरा हो

चला है— कम से कम उसे तो ऐसा लगता है। और फिर वह अपने इस नए हरेपन पर इतना ज्यादा इतराता है कि अपने आज के अलावा अपने कल को, सभी चीजों को उसने एकदम पिछड़ा, दकियानूस मान लिया है। कल की यह सूची बहुत लंबी है। इसमें भाषा है, विचार है, परंपराएं हैं, पोशाक है, धर्म है, कर्म भी है।

सबसे पहले भाषा ही देखें।

भाषा में अगर हम किसी तरह की असावधानी दिखाते हैं तो हम व्यवहार

हिंदी में उदार शब्द बड़े ही उदात्त अर्थ लिए हैं। शुभ शब्द है। लेकिन इस नई व्यवस्था ने इस इतने बड़े शब्द को एक बेहद घटिया काम में झोंक दिया है। इसे आर्थिक व्यवस्था से जोड़कर अंग्रेजी के अनुवाद से एक नया शब्द बनाया गया है— उदारीकरण। जब मन उदार बन रहा है, सरकार उदार बन रही है, अर्थ-व्यवस्था उदार हो चली है तब काहे का डर भाई। मन में कैसा संशय?

में भी असावधान होने लगते हैं। भाषा की यह चर्चा हिंदी विलाप-मिलाप की नहीं है। उदाहरण देखें: हिंदी में उदार शब्द बड़े ही उदात्त अर्थ लिए हैं। शुभ शब्द है। लेकिन इस नई व्यवस्था ने इस इतने बड़े शब्द को एक बेहद घटिया काम में झोंक दिया है। इसे आर्थिक व्यवस्था से जोड़कर अंग्रेजी के अनुवाद से एक नया शब्द बनाया गया है— उदारीकरण। जब मन उदार बन रहा है, सरकार उदार बन रही है, अर्थ-व्यवस्था उदार हो चली है तब काहे का डर भाई। मन में कैसा संशय?

उदार का विपरीत है, कंजूस, कृपण, झंझटी, संकीर्ण। तो क्या इस उदारीकरण से पहले की व्यवस्था कंजूसी की थी? संकीर्णता की थी? वह दौर किनका था? वह तो सबसे अच्छे माने गए नेतृत्व का दौर था— नेहरूजी,

सरदार पटेल जैसे लोगों का था।

जड़ों की तलाश को निजी स्तर पर लेने से कोई व्यावहारिक हल हाथ लगेगा नहीं। समाज के, देश के, काल के स्तर पर जब सोचेंगे तो जड़ों की चिंता हमें उदारीकरण जैसी प्रवृत्तियों की तरफ ले जाएगी। हम उनके बारे में ठीक से सोचने लगेंगे और तब हम सचमुच सच के सामने खड़े हो पाएंगे।

यदि हम ऐसा नहीं कर पाते तो पाएंगे कि जड़ों की तलाश भी जारी रहेगी और हम अपनी जड़ें खुद काटते भी रहेंगे। अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना कहावत में यह भी जोड़ा जा सकता है कि हम खुद अपनी कुल्हाड़ी की धार चमका कर उसे और ज्यादा धारदार बनाकर गा बजा कर अपने पैरों पर मारते रहेंगे।

आधुनिक दौर में, अपनी जड़ों से कट कर हमने जो विकास किया, उसके बुरे नतीजे तो चारों तरफ बिखरे पड़े हैं। स्थूल अर्थों में भी और सूक्ष्म अर्थों में भी। ढंका हुआ भूजल, खुला बहता नदियों, तालाबों का पानी और समुद्र तक बुरी तरह से गंदा हो चुका है। विशाल समुद्रों में हमारी नई सभ्यता ने इतना कचरा फेंका है कि अब अंतरिक्ष से टोह लेने वाले कैमरों ने अमेरिका के नक्षत्र बराबर प्लास्टिक के कचरे के एक बड़े ढेर के चित्र लिए हैं। लेकिन अभी इस स्थूल और सूक्ष्म संकेतों को यहीं छोड़ वापस उदारीकरण की तरफ लौटें।

हमारे बीच जो भी नई व्यवस्था या विचार आते हैं, वे हर पंद्रह-बीस सालों में अपना मुंह किसी और दिशा में मोड़ लेते हैं। अभी कुछ ही बरस पहले तो दुनिया के किसी एक पक्ष ने हमें यह पाठ पढ़ाया कि राष्ट्रीयकरण बहुत ऊंची चीज है। हमने वह पाठ तोते की तरह पढ़ा फिर रट लिया उसे। आगे-पीछे नहीं सोचा और देश में सब चीजों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। हमने अपने खुद के तोतों से भी नहीं पूछा कि तुम भी कोई पाठ जानते हो क्या? अपनी डाल के ऊपर बैठे तोतों की तरफ देखा तक नहीं। राष्ट्रीयकरण में ऐसा कुछ नहीं था कि उसके नीचे जो कुछ भी डाला जाएगा, वह सब ठीक हो जाएगा। खूब प्रशंसा हुई तालियां बजीं। कुछ नेता एकाध चुनाव भी जीत गए होंगे।

फिर इससे काम चला नहीं। समस्याएं तो हल हुई नहीं तो फिर एक नई दिशा पकड़ ली। सरकार की सब चीजें निजी हाथों में सौंप देने का दौर आ गया। पर इसे बाजारीकरण नहीं कहा गया। नाम रखा उदारीकरण। किसी ने भी यह नहीं कहा कि यह तो उधार में लिया गया हल है। इसका यदि कोई नाम ही रखना हो तो इसे उधारीकरण कहो न।

अपनी जड़ों से कटे इस नए विकास ने बहुत से चमत्कार कर दिखाए हैं। निस्संदेह आज कुछ करोड़ हाथों में मोबाईल फोन हैं। लाखों कंप्यूटर हैं, लोगों की टेबिलों पर और गोद में भी। अब तो हाथ में भी टेबलैट हैं। इन माध्यमों

हमारे बीच जो भी नई व्यवस्था या विचार आते हैं , वे हर पंद्रह-बीस सालों में अपना मुंह किसी और दिशा में मोड़ लेते हैं। अभी कुछ ही बरस पहले तो दुनिया के किसी एक पक्ष ने हमें यह पाठ पढ़ाया कि राष्ट्रीयकरण बहुत ऊंची चीज है। हमने वह पाठ तोते की तरह पढ़ा फिर रट लिया उसे। आगे-पीछे नहीं सोचा और देश में सब चीजों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। हमने अपने खुद के तोतों से भी नहीं पूछा कि तुम भी कोई पाठ जानते हो क्या?

से पूरी दुनिया में तो बातें हो सकती हैं पर बगल में बैठे व्यक्ति से संवाद टूट गया है। सामाजिक कहे जाने वाला कंप्यूटर नैटवर्क चाहे जब कुछ लाख लोगों को कुछ ही घंटों में बैंगलोर, चैन्नई, हैदराबाद से खदेड़कर उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में जाने मजबूर कर देता है। इस विकास ने महाराष्ट्र में आधुनिक सिंचाई की योजनाओं पर सबसे ज्यादा राशि खर्च की है। आज उसी महाराष्ट्र में सबसे बुरा अकाल पड़ रहा है।

अपनी जड़ों से कटे इस नए विकास ने बहुत से चमत्कार कर दिखाए हैं। निस्संदेह आज कुछ करोड़ हाथों में मोबाईल फोन हैं। लाखों कंप्यूटर हैं, लोगों की टेबिलों पर और गोद में भी। अब तो हाथ में भी टेबलैट हैं। इन माध्यमों से पूरी दुनिया में तो बातें हो सकती हैं पर बगल में बैठे व्यक्ति से संवाद टूट गया है। सामाजिक कहे जाने वाला कंप्यूटर नैटवर्क चाहे जब कुछ लाख लोगों को कुछ ही घंटों में बैंगलोर, चैन्नई, हैदराबाद से खदेड़कर उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में जाने मजबूर कर देता है।

इस विकास ने बहुत से लोगों को अपने ही आंगन में पराया बनाया है। यह सूची भी बहुत बड़ी और यह संख्या भी। अपने ही आंगन में पराए बनते जा रहे लोगों की संख्या उस बहुप्रचारित मोबाईल क्रांति से कम नहीं है। अपनी जड़ों से जुड़े अनगिनत लोग विकास के नाम पर काट कर फेंक दिए गए हैं।

बलि प्रथा, नर बलि प्रथा कभी रही होगी। आज तो विकास की बलि प्रथा है। कुछ लोगों को ज्यादा लोगों के कल्याण, विकास के लिए अपनी जान देनी पड़ रही है। और जिनके लिए ये सब होता है, उनमें से न जाने कितने लोगों को आज यह नया जीवन अपनी जड़ों से इतना ज्यादा काट देता है कि उन्हें जीवन जीने की कला सीखने अपनी मंहगी नौकरियां छोड़ संतों के शिविरों में जाना पड़ता है।

एक हिस्सा गरीबी में अपनी जड़ों से कट कर विस्थापित होता है तो दूसरा भाग

अपनी अमीरी का बोझा ढोते हुए लड़खड़ाता दिखता है।

ऐसी विचित्र भगदड़ में फंसा समाज अपनी जड़ों को खोज पाएगा, उनसे जुड़ पाएगा— ऐसी उम्मीद रखना बड़ा कठिन काम है। लेकिन ये शब्द हमारा पीछा आसानी से नहीं छोड़ने वाले। जड़ें शायद छूटेंगी नहीं। दबी रहेंगी मिट्टी के भीतर। ठीक हवा पानी मिलने पर वे फिर से हरी हो सकेंगी और उनमें नए पीके भी फूट सकेंगे। हमें अपने को उस क्षण के लिए बचाकर रखना होगा।



पुराना चावल

यह अपराध नहीं कर्तव्य है

जयप्रकाश नारायण

सन् 1940 में तीस मार्च को जे.पी. ने अदालत के सामने यह बयान दिया था। उन पर अंग्रेज सरकार ने लोगों को भड़काने और उन्हें गुमराह करने का आरोप लगाया था। भड़काऊ बताए जाने वाले भाषण आज भी दिए जाते हैं। पर उन्हें देने वाले अपने पर आरोप लगने से पहले ही जमानत की अर्जी देने लगते हैं। सजा से बचने के लिए बड़े वकीलों को बड़ा पैसा देकर ढाल की तरह इस्तेमाल करते हैं। यहां अदालत के सामने जे.पी. अपना अपराध तो कबूल कर ही रहे हैं पर यह कहते हुए कि ऐसा करना तो कर्तव्य है। वे यह भी जोड़ते हैं कि इस अपराध को स्वीकार कर उन्होंने अदालत का काम बिलकुल सरल कर दिया है। और अब इस प्रसंग में उन्हें जो भी कड़ी से कड़ी सजा मिलेगी उसे वे पुरस्कार ही मानेंगे।

मुझ पर आरोप लगाया गया है कि युद्ध के कारगर संचालन के लिए जो गोला-बारूद तथा अन्य सामग्री आवश्यक है, मैं उसके उत्पादन में बाधा डालने का प्रयास कर रहा हूं, तथा जनता के रुख और आचरण को इस तरह प्रभावित करने का प्रयास कर रहा हूं कि ब्रिटिश भारत की सुरक्षा को तथा युद्ध के कारगर संचालन को हानि पहुंचे।

मैं इन आरोपों को स्वीकार करता हूं।

तथापि ये आरोप मेरी नजर में अपराध नहीं, बल्कि एक ऐसा कर्तव्य है जिसका मैं नतीजे की परवाह किए बिना पालन कर रहा हूं। ये आरोप इस देश में ताकत के बल पर स्थापित विदेशी हुकूमत के कुछ कानूनों के अंतर्गत एक

अपराध भी बन जाते हैं, इस बात की मुझे चिंता नहीं है। इन कानूनों का उद्देश्य उस राष्ट्रवादी भारत के उद्देश्यों के बिलकुल विपरीत है, जिसका मैं मात्र एक तुच्छ प्रतिनिधि हूँ। इन कानूनों के साथ हमारा टकराव होना स्वाभाविक ही है।

इस युद्ध में मेरा देश किसी भी तरह से शामिल नहीं है, क्योंकि मेरा देश जर्मन नाजीवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद—दोनों को ही बुरा तथा अपना शत्रु समझता है। मेरा देश समझता है कि युद्ध में भाग लेने वाले दोनों ही पक्ष दूसरे देशों पर अपना आधिपत्य और प्रभुत्व स्थापित करने और उनका शोषण तथा दमन करने के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्रेरित हैं। ब्रिटेन युद्ध इसलिए नहीं लड़ रहा है कि वह नाजीवाद को, जिसका वह अब तक पोषण करता आया है, अब

जिस भाषण के कारण मुझ पर मुकदमा चलाया जा रहा है, मैं नहीं कह सकता कि वह अपना उद्देश्य पूरा करने में कहां तक सफल हुआ। लेकिन यदि मुझे पता चले कि मेरे भाषण के कारण युद्ध के कारगर संचालन में कुछ भी विघ्न पड़ा है तो मेरे लिए इससे बड़ी खुशी की बात और कोई नहीं होगी। यदि इस उद्देश्य में मैं सफल समझा गया तो इसके लिए मिलने वाली कड़ी से कड़ी सजा को भी मैं पुरस्कार समझूंगा।

समाप्त करना चाहता है। बल्कि उसका उद्देश्य अपने प्रतिद्वन्द्वी की ताकत को काबू में लाना है जिसे निर्बाध रूप से और अधिक बढ़ने नहीं दिया जा सकता। वह विश्व में अपनी प्रमुखता बनाए रखने और अपनी साम्राज्यवादी शक्ति तथा वैभव को कायम रखने के लिए लड़ाई कर रहा है। जहां तक भारत का संबंध है, ब्रिटेन अपने भारतीय साम्राज्य को कायम रखने के लिए ही युद्ध कर रहा है।

साफ है कि ऐसे युद्ध से भारत अपना कोई वास्ता नहीं रख सकता। कोई भारतीय इस बात की इजाजत नहीं दे सकता कि साम्राज्यवाद को सहारा देने के लिए उसके देश के साधनों का इस्तेमाल होता रहे और युद्ध की इन कार्रवाइयों के जरिए उन्हीं साधनों को उसके देश को दासता में जकड़ रखने वाली जंजीरों की शक्ल दी जाती रहे। कांग्रेस ने, जो राष्ट्रवादी भारत की एक मात्र प्रतिनिधि आवाज है, इस देश की जनता को उसके इस पुनीत कर्तव्य का पहले ही स्मरण करा दिया है।

कांग्रेस के एक विनम्र सेवक के नाते मैंने यह कर्तव्य पूरा करने का प्रयास मात्र किया है।

दूसरी ओर, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनमत की पूरी तरह अवहेलना करके भारत को एक युद्धरत देश घोषित कर दिया है। वह भारतीय धन-जन और सामग्री का इस्तेमाल एक ऐसे युद्ध के लिए कर रही है जिसका पूरी तरह विरोध

करने के लिए हम वचनबद्ध हैं। यह कार्रवाई एक प्रकार से भारत पर आक्रमण है और वर्तमान स्थिति में पोलैंड पर हुए जर्मन आक्रमण से कम गंभीर नहीं है। भारत इस आक्रमण का प्रतिरोध किए बिना नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक देशभक्त भारतीय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह ब्रिटिश सरकार की अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस देश के साधनों को इस्तेमाल करने की कोशिश का विरोध करे। युद्ध के कारगर संचालन में अड़ंगा लगाने का जो आरोप मुझे पर लगाया गया है, वह देश के प्रति कर्तव्य का पालन मात्र है। देशभक्त भारतीयों का जो कर्तव्य है, उसे यदि ब्रिटिश सरकार एक अपराध समझती है, तो इससे उसका साम्राज्यवादी स्वरूप और अधिक सिद्ध हो जाता है।

जिस भाषण के कारण मुझ पर मुकदमा चलाया जा रहा है, मैं नहीं कह सकता कि वह अपना उद्देश्य पूरा करने में कहां तक सफल हुआ। लेकिन यदि मुझे पता चले कि मेरे भाषण के कारण युद्ध के कारगर संचालन में कुछ भी विघ्न पड़ा है तो मेरे लिए इससे बड़ी खुशी की बात और कोई नहीं होगी। यदि इस उद्देश्य में मैं सफल समझा गया तो इसके लिए मिलने वाली कड़ी से कड़ी सजा को भी मैं पुरस्कार समझूंगा।

ब्रिटिश भारत की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा करने के आरोप का जहां तक सवाल है, मेरे ख्याल से इसकी विडंबना हमसे छिपी नहीं है। एक गुलाम का यह कतई दायित्व नहीं है कि वह अपनी गुलामी की रक्षा करे; उसका कर्तव्य तो अपने बंधन को तोड़ना है। मुझे आशा है कि जब हमें आजादी हासिल हो जाएगी, तब हमें यह भी मालूम हो जाएगा कि स्वयं अपनी रक्षा कैसे की जाती है।

मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं कि मुझ पर जमशेदपुर में दिए गए मेरे भाषण के कारण मुकदमा चलाया गया है। इस औद्योगिक क्षेत्र को मैं देश का सबसे महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र मानता हूं। यह क्षेत्र राजनैतिक रूप से और श्रमिक आंदोलन की दृष्टि से विशेष रूपसे पिछड़ा हुआ क्षेत्र है। जेल में— जहां मेरा पहुंचना अवश्यंभावी लगता है— मुझे इस विचार से कुछ संतोष प्राप्त होता रहेगा कि इस क्षेत्र में दिए गए मेरे भाषण के कारण मेरी गिरफ्तारी होने और जेल जाने से मेरे देश के राजनैतिक तथा श्रमिक नेताओं का ध्यान इस शहर की ओर गया है। मुझे यह कलंक की बात लगती है कि देश की सबसे अधिक उपयोगी साधन-सामग्री इस तरह एक ऐसे युद्ध में बर्बाद हो, जिसके हम सख्त खिलाफ हैं। यह भी कुछ कम लज्जाजनक बात नहीं है कि जहां सारे देश के श्रमिक युद्धजनित स्थिति के प्रति जोरदार प्रतिक्रिया दिखाई रहे हों, वहीं जमशेदपुर के श्रमिक इस प्रकार चुपचाप काम किए चले जा रहे हैं मानो कोई खास बात हुई ही न हो। मेरी कामना है कि

इस मुकदमें के परिणामस्वरूप कम से कम युद्ध-बोनस की मांग तो जोर पकड़े।

अपना वक्तव्य समाप्त करने से पूर्व मैं यह भी कहना चाहूंगा कि एक अंग्रेज होने के नाते कहीं आप मुझे गलत न समझें। इसलिए मैं यह बात स्पष्ट कर दूँ कि युद्ध के संचालन में बाधा पहुंचाकर मैं जर्मनी की मदद नहीं करना चाहता और न जर्मनी को विजयी होते देखना चाहता हूँ। मैं न तो साम्राज्यवादी की विजय चाहता हूँ और न नाजीवाद की ही।

फिर भी, एक कांग्रेसजन और समाजवादी होने के नाते, मेरे मन में अंग्रेजों और जर्मन लोगों के प्रति सद्भावना के सिवाय और कुछ नहीं है। यदि ब्रिटेन के साम्राज्यवादी युद्ध का भारत द्वारा विरोध किए जाने से नाजियों की विजय सुनिश्चित होती हो, तो फिर ब्रिटेन के लोगों की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि वे इस बात का फैसला करें कि वे नाजी एकाधिपत्य को स्वीकार करेंगे अथवा वे अपने देश में तथा भारत में वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना के साथ विजय प्राप्त करना चाहेंगे। यदि ब्रिटेन की जनता इस देश पर अपना शासन हटा दे और पूंजीवादी शासकों सहित साम्राज्यवाद को समाप्त कर दे, तो न केवल भारत, बल्कि सारी दुनिया की स्वातंत्र प्रिय जनता नाजीवाद की हार तथा स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की विजय के लिए अपनी पूरी ताकत लगा देगी।

किंतु वर्तमान स्थिति में भारत के सामने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर लेकर उसे समाप्त करने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं है। केवल इसी तरीके से भारत विश्व की शांति तथा समृद्धि में अपना योगदान कर सकता है।

महोदय, मैं जानता हूँ कि अपने इस वक्तव्य से मैंने आपका काम और अधिक सरल बना दिया है। मुझे इसका कोई दुख नहीं है।

अंत में, मुकदमें के दौरान आपने जो सौजन्य तथा सद्भाव दिखाया है, उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

संपूर्ण गांधी वांगमय के 71 वें
खंड, परिशिष्ट 7, पृष्ठ 499 से साभार



पोथी पढ़ि पढ़ि

सात उंगलियों से काम करो

तारा धर्माधिकारी

बचपन बहुत ही ठठ-बाट से बीता। सोने के पालने में चांदी के चम्मच से उन्हें खाना खिलाया जाता। रेशमी कुर्ता, सिर पर जरी की टोपी तथा पांवों में बूट— यही उनकी वेशभूषा रहती। उनकी चार बहनें और एक भाई था। उनका पूरा नाम था मुरलीधर देवीदास आमटे।

बाबा आमटे का जन्म 26 दिसंबर 1914 को महाराष्ट्र स्थित वर्धा जिले में हिंगणघाट गांव में हुआ था। उनका परिवार एक सनातनी ब्राह्मण परिवार था। पिता देवीदास हरबाजी आमटे शासकीय सेवा में लेखापाल थे। वरोड़ा से पांच-छह मील दूर गोरजे गांव में उनकी जमींदारी थी।

बाबा अपने पिता से हमेशा डरे-सहमे से रहते, उनसे बात करने से कतराते थे। लेकिन अपनी मां से उनकी गाढ़ी छनती थी। उनका व्यक्तित्व अद्भुत था। बचपन में मां ने आमटे को खेलने के लिए एक लुढ़कने वाला गुड्डा दिया था जो बार-बार गिराए जाने पर भी उठ कर बैठ जाता था। मां कहा करती थीं, “देख जिंदगी में इसी तरह गिरते-पड़ते रहने के, मात खाने के, धराशायी होने के प्रसंग आते ही रहेंगे, पर डरना नहीं। हार कर भी मनुष्य की तरह लड़ते रहना, यही जीवन का दूसरा नाम है।”

चौदह-पंद्रह वर्ष की आयु में ही बाबा के पांवों में शनीचर समा गया। उन पर जैसे भ्रमण करने की धुन सवार हो गई। उन्हें घूमना-फिरना अच्छा लगता। पिता को बिना बताए ही वे रवींद्रनाथ के शांतिनिकेतन हो आए। कभी नर्मदा का उद्गम स्थान देखने अमरकंटक चले जाते, तो कभी चंद्रपुर के घने जंगलों में बसे आदिवासियों की बस्ती में भटकते। उनका शिकार का शौक देख कर पिताजी ने उनकी सोलहवीं वर्षगांठ पर उन्हें स्टेनगन उपहार में दी थी।

पिता ने अवकाश ग्रहण करने के बाद नागपुर में धरमपेठ में एक बड़ी कोठी बनवाई। बाबा की माध्यमिक विद्यालय की शिक्षा अंग्रेजी रीति-रिवाजों के अनुसार संपन्न हुई थी। महाविद्यालयीय शिक्षा नागपुर के हिस्लॉप महाविद्यालय में हुई। हिस्लॉप में अध्ययन करने हेतु बाबा घोड़ीगाड़ी में बैठकर जाते। करारा इस्त्री किया हुआ शानदार सूट, चमचमाते बूट, रुमाल— इस तरह बाबा का ठाट-बाट होता। वहां ईसाई वातावरण था। बाबा को बाईबिल का पीरियड अच्छा लगता। ईसा का बलिदान उनके दिल को छू लेता।

बाबा भी गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों पर ध्यान देने लगे। वकालत के माध्यम से भी गरीबों की सहायता करने लगे। उनके रहन-सहन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया। देश की खातिर कठोर व्रत की साधना का श्रीगणेश हो गया, जीवन की दिशा बदली, रंग बदला। टाई, सूट-बूट को उतार कर वे खादी का कपड़ा धारण करने लगे। चरखा, आश्रम की प्रार्थना, एकादश व्रत का पालन ध्यानपूर्वक करने लगे तथा मिर्च-मसाला, घी, चीनी से रहित नपे तुले आहार को अपने दैनिक जीवन का अंग बनाया।

उस समय बाबा नागपुर की एक रईस बस्ती— सिविल लाईस में रहते थे। तरह-तरह के अंग्रेजी फैशन के कपड़े पहनना, अंग्रेजी फिल्में देखना, शिकार पर जाना आदि सारे रईसी शौक थे उनके। महाविद्यालय आने-जाने के लिए पिता ने उन्हें एक सिंगल स्पोर्ट्स कार दी थी। जिंदगी आराम से कट रही थी। अब बाबा अंग्रेजी फिल्में देखकर उन पर आलोचना भी लिखने लगे थे। उन्होंने प्रचुर मात्रा में अंग्रेजी साहित्य पढ़ा। फिल्में देखना, कार में बैठकर सैर-सपाटे करना, शिकार खेलना— इसी में पूरा साल गुजरता, पर आखिरी दो महीनों में डट कर पढ़ाई करते हुए बाबा परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते। इसी प्रकार बाबा ने वकालत की डिग्री प्राप्त की। पिता की हार्दिक इच्छा थी कि बाबा वकालत करें, अतः मध्य प्रदेश के जाने-माने देशभक्त तथा फौजदारी वकील श्री विश्वनाथ तामस्कर के साथ छत्तीसगढ़ स्थित दुर्ग जिले में बाबा ने वकालत शुरू की। लेकिन उनके सामने यही प्रश्न खड़ा रहा कि वकालत करके

अपराधियों को छुड़ाने में समय एवं बुद्धि का व्यय करना कहां तक उचित है?

सन् 1936 से ही महात्मा गांधी वर्धा जिले स्थित सेवाग्राम में रहने आए हुए थे। मित्र वा.कृ. चोरघडे वर्धा में अध्यापक थे। अब बाबा के दिलोदिमाग पर जमा हुआ सशस्त्र क्रांतिकारियों का प्रभाव फीका पड़ने लगा और गांधीवाद का आकर्षण बढ़ने लगा। इसी समय उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। वरोड़ा के आई.सी.एस. श्री रा.कृ. पाटील ने कलेक्टर की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। अब

बाबा भी गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों पर ध्यान देने लगे। वे पिछड़ी बताई गई जातियों और मजदूरों के सहकारी संगठन बनाने लगे। वकालत के माध्यम से भी गरीबों की सहायता करने लगे। उनके रहन-सहन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया। देश की खातिर कठोर व्रत की साधना का श्रीगणेश हो गया, जीवन की दिशा बदली, रंग बदला। टाई, सूट-बूट को उतार कर वे खादी का कपड़ा धारण करने लगे। चरखा, आश्रम की प्रार्थना, एकादश व्रत का पालन ध्यानपूर्वक करने लगे तथा मिर्च-मसाला, घी, चीनी से रहित नपे-तुले आहार को अपने दैनिक जीवन का अंग बनाया।

इसी कालखंड में बाबा के जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। नागपुर के घुले शास्त्री के परिवार के साथ उनके घरेलू संबंध थे। वहां उनका आना-जाना रहता। वहीं उनकी मुलाकात इंदु घुले से हुई। धीरे-धीरे इंदु घुले के साथ उनका पत्र व्यवहार भी शुरू हो गया। उनका सेवाभाव, स्नेहशील, परिश्रमी स्वभाव बाबा को भा गया। इंदु ने भी उनकी भावना का आदर किया। दोनों विवाह के लिए तैयार हो गए। लेकिन इंदु की माताजी ने इस विवाह का कड़ा विरोध किया। उनके मातृ-हृदय को यह संदेह था कि बाबा जैसे सनकी, झक्की व्यक्ति के साथ विवाह करके अपनी लाडली बेटी सुखी रहेगी या नहीं। परंतु इंदु अपने निश्चय पर अडिग थी।

एक दिन घुले की हवेली में कुछ चोर घुस आए। संयोगवश वहां उपस्थित बाबा ने आव देखा न ताव, उन चोरों पर आक्रमण कर दिया। उस हाथापाई में बाबा गंभीर रूप से घायल हो गए।

18 दिसंबर 1946 को बाबा का विवाह संपन्न हुआ। बाबा के शरीर पर अनेक घाव थे, सिर पर पट्टियां बंधी थीं, फिर भी शादी की तारीख आगे बढ़ाना उन्हें मंजूर नहीं था। साधना देवी (इंदु) के रूप में बाबा को गृहिणी सखी, सचिव और स्नेहमयी पत्नी मिली और बाबा की गृहस्थी का आरंभ हो गया। उस समय साधना देवी की उम्र सिर्फ बीस बरस थी। अक्टूबर 1947 में उनके पहले पुत्र विकास का जन्म हुआ।

अब बाबा से सभी जातियों के लोग मिलने आते। बाबा ने सोचा, इन सभी के साथ मिलकर 'मित्रबस्ती' अर्थात् समुदाय का प्रयोग करके देखें। बाबा ने इस प्रयोग का संकल्प लिया। उनके पास कमाई का कोई साधन नहीं बचा था क्योंकि

**तय हुआ कि ब्राह्मण
से लेकर अछूत बताए
गए तक, सभी साथ-साथ
रहें, अपना-अपना व्यवसाय
करें। साथ ही, सभी की
आमदनी इकट्ठी करें तथा
खर्च भी मिलकर करें,
सभी की जरूरतें एक
साथ पूरी हों।**

उन्होंने सन् 1938 में प्राप्त वकालत की डिग्री के टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे ताकि भविष्य में कभी वकालत का मोह नहीं जागे। उनके इस संकल्प को पूरा करने में मदद के लिए उनके पुराने साथी महादेव आंबेकर आगे आए। वे सन् 1940 से साए की तरह उनके साथ थे। श्री पावड़े वकील, श्री स्वान वकील, श्री खिस्ती आदि कुछ अन्य साथी भी तैयार हो गए।

इन नए प्रयोग का आधार था गांधीजी की विचारधारा। इसमें समानता के साथ संयुक्त परिवार के विचार भी समाहित थे। तब यह हुआ कि ब्राह्मण से लेकर अछूत बताए गए तक, सभी साथ-साथ रहें, अपना-अपना व्यवसाय करें। साथ ही, सभी की आमदनी इकट्ठी करें तथा खर्च भी मिलकर करें, सभी की जरूरतें एक साथ पूरी हों।

**एक दिन एक कुष्ठरोगी
ईसा के सामने खड़ा हो गया।
ईसा मसीह ने सहजतापूर्वक
उसे अपने निकट खींच लिया
और उसका माथा चूम कर
कहा, “इस समाज ने तुम्हें
भले ही खारिज कर दिया
हो, तथापि ईश्वर के निकट
तुम्हारा स्थान है।”**

वरोड़ा के मकान मालिक, जो जात-पात पर विश्वास करते थे, इस प्रयोग का अमल अपने घर में कराने के लिए राजी नहीं थे। तब मध्य प्रदेश के तत्कालीन मंत्री श्री रा.कृ. पाटील अपना घर देने के लिए तैयार हो गए। यह जगह वरोड़ा गांव से बाहर पांच मील की दूरी पर सात एकड़ जमीन पर थी।

बाबा जब सामूहिक जीवन के साम्य कुलीन श्रमाश्रम का प्रयोग कर रहे थे, तब विनोबाजी ने उन्हें सौ रुपए भेजे और लिखा—“यह एक फकीर की भेंट है, इसका दूध लेकर पीओ।”

प्रयोग का आरंभ तो हो गया पर जात-पात तोड़ने के इस प्रयोग से सारे संबंधी नाराज हो गए। बाबा ने अपनी पैतृक संपत्ति के अधिकार का त्याग कर दिया था। कमाई का कोई साधन नहीं था। अतः उन्होंने निश्चय किया कि गांधी-विनोबाजी के साहित्य के साथ-साथ ग्रामीण कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बेचा जाए। दिन भर दर-दर घूम कर भी पैसे नहीं मिलते। रोज तड़के चार बजे उठना, कलेवा करना और खेत पर काम करने निकल पड़ना, इस प्रकार बाबा अठारह-अठारह घंटे कोल्हू के बैल की तरह खटते थे और साधनाजी घर में रह कर आश्रम और रसोई संभालती थीं। बाबा स्वयं उस धरती पर उगायी सब्जी की टोकरियां उठाकर बाजार में बैठते। थोड़ा-बहुत पैसा आने लगा। साधनाजी ताड़ के पत्तों से झाड़ू टोकरियां आदि बनाना सीखने लगीं। परंतु अति परिश्रम से बीमारी ने उन्हें घेर लिया। अतः इलाज के लिए उन्हें नागपुर

भेजना पड़ा। जैसे की तंगी, मलेरिया की बीमारी आदि समस्याएं तो थीं ही, साथ ही हर किसी को बंधन पसंद नहीं था। अतः श्रमाश्रम, मित्रबस्ती का प्रयोग असफल हो गया। परंतु बाबा ने हिम्मत नहीं हारी।

कुष्ठरोगियों से घृणा उतनी ही पुरानी बात है, जितनी यह दुनिया। सदियों से कुष्ठरोगी अकेला ही दर-दर की ठोकें खाता घूम रहा है। एक दिन एक कुष्ठरोगी ईसा के सामने खड़ा हो गया। ईसा मसीह ने सहजतापूर्वक उसे अपने निकट खींच लिया और उसका माथा चूम कर कहा, “इस समाज ने तुम्हें भले ही खारिज कर दिया हो, तथापि ईश्वर के निकट तुम्हारा स्थान है।” फिर भी इस मनुष्य समाज में कुष्ठरोगी अकेला और बहिष्कृत ही रहा।

इस लाइलाज रोग से विकलांग बने परचुरे शास्त्री को महात्मा गांधी ने अपनाया, उन्हें अपनी कृटिया के निकट आश्रय दिया, तब उन्होंने समाज की करुणा की कोख में इस अभागे कुष्ठरोगी को स्थान दिलवाया। अतः बाबा आमटे का प्रेरणा स्रोत गांधीजी हैं। परंतु गिरा हुआ मनुष्य मात्र प्रेम और करुणा से खड़ा नहीं रह सकता। दया और दान उसे निकम्मा बनाते हैं। विनोबाजी ने उसके पुनरुत्थान का मार्ग पहचाना था। बाबा ने सोचा, विनोबाजी मानवीय जीवन का गौरव बल हैं, जो जीवन भर के शारीरिक परिश्रम से तप कर सोना हो गया है। जिस दिन धान की रोपाई के लिए कुष्ठ रोगियों के साथ घुटने-घुटने कीचड़ में उतरे, उस दिन दत्तपुर में इस संत महात्मा ने मानो कुष्ठरोगियों के भावी पराक्रम की यशोगाथा ही उनके हाथों में सौंप दी।

सन् 1949 में उन्होंने वरोड़ा में महारोगी सेवा समिति की स्थापना की। पास-पड़ोस के कुष्ठरोगियों की सेवा का कार्य शुरू हुआ। उपचार, प्रशिक्षण, पुनर्वसन— इस प्रकार प्राथमिक रूप में कार्य करते-करते दत्तपुर में प्रशिक्षण प्राप्त करने का विचार कर ही रहे थे कि साधनाजी ने फिर से खटिया पकड़ ली। उनके उपचार की उचित व्यवस्था करके बाबा ने सन् 1950 में कलकत्ता के ‘स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिन’ से कुष्ठरोग में विशेष पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण पूरा किया। इस अवधि में ही बाबा ने अपने शरीर में कुष्ठ रोग का प्रयोगात्मक प्रतिबंधक टीका

‘स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन’— हमारी इस परंपरागत धारणा को बाबा ने परे हटाया और इस प्रकार वातावरण बनाया कि इन कुष्ठरोगियों से भी समाज कुछ सीखे, जिनका शरीर तो रोगी है पर मन स्वस्थ है, रोग मुक्त है। बाबा का मानना है कि समाज के लिए ‘मानसिक कुष्ठरोग’ अधिक भयंकर है।

लगवाया। इस स्वस्थ, हट्टे-कट्टे युवक द्वारा, जिसे दो नन्हें-नन्हें प्यारे-प्यारे बच्चे थे, पत्नी थी, दिखाया गया यह साहस वाकई अनोखा था।

बाबा एक महान प्रयोगकर्ता हैं। “मेरी देह में कुष्ठरोग का लासा रोगाणु डाल के देखो” कहते हुए उन्होंने निर्भीकता से अपना शरीर आगे बढ़ाया। बाबा के जीवन की यह एक अद्भुत घटना है। कोई साधारण आदमी, जो सिर्फ जीवन के फुरसत के क्षणों में ही कुष्ठरोगियों के बारे में सोचता है, इसकी कल्पना मात्र से ही उसके छक्के छूट जाते। परंतु कुष्ठरोगियों की सेवा की प्रेरणा बाबा को महात्मा गांधी द्वारा एक कुष्ठरोगी परचुरे शास्त्री की सेवा से मिली थी। मनोहर दिवाण के दत्तपुर स्थित कुष्ठधाम से, विनोबाजी के सत्संग से उनमें कुंदन-सा निखार आ गया।

आनंदवन वासियों को जिस समाज ने बहिष्कृत करके दुतकारा था, उसी समाज को उन्होंने उनका पराक्रम, उनकी विविध कार्यों में कुशलता देखने के लिए निमंत्रित किया। उनमें विचारक, समाज सेवक, लेखक, देशभक्त, कृषि विज्ञानी आदि प्रसिद्ध हस्तियां थीं। सन् 1961 में आनंदवन में पहला मित्र मेला संपन्न हुआ।

बाबा इस विचार से कभी सहमत नहीं थे कि रोगी के रूप में कुष्ठरोगी आए और रोगमुक्त होने पर भी आहत मन से बहिष्कृत जीवन जीए। इस विचार से उनके लिए कुछ न कुछ काम निकाल कर वे उनका स्वाभिमान जीवित रखते थे। कुष्ठरोगी को रोगमुक्त तो होना चाहिए परंतु समाज में मनुष्य होने के नाते वे कुष्ठरोगी को शारीरिक के साथ-साथ मानसिक रूप से भी स्वस्थ करते हैं। उनकी करुणा रोगी की असहायता में उनकी देखभाल तक ही सीमित नहीं है। वे रोगी में जीने की चाहत और आत्मविश्वास निर्माण हेतु सतत प्रयास करते रहते।

‘स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन’— हमारी इस परंपरागत धारणा को बाबा ने परे हटाया और इस प्रकार वातावरण बनाया कि इन कुष्ठरोगियों से भी समाज कुछ सीखे, जिनका शरीर तो रोगी है पर मन स्वस्थ है, रोग मुक्त है। बाबा का मानना है कि समाज के लिए शारीरिक से अधिक ‘मानसिक कुष्ठरोग’ अधिक भयंकर है।

बाबा की सेवा की दूसरी विशेषता यह है कि वे कुष्ठरोगियों को ही कुष्ठरोगियों की सेवा करना सिखाते हैं। धीरे-धीरे पुराने रोगी ठीक होते जाते हैं और नए रोगियों की सेवा में जुट जाते हैं। कुष्ठरोगी के रूप में दाखिल हुआ व्यक्ति दो-तीन वर्षों के बाद परिचारक बन कर काम करने लगता है। मनुष्य के रूप में कुष्ठरोगी को समान व्यवहार और प्रतिष्ठा मिलना उनका अधिकार है। मशीन की तरह उनका प्रयोग करना घोर अपराध है। इसीलिए बाबा कहते हैं,

“किसी कुष्ठरोगी का खिला-खिला प्रसन्न चेहरा अथवा किसी विकलांग बालक के चेहरे पर बिखरी मधुर मुसकान, यही मेरा सच्चा पुरस्कार है।” बाबा को एक ही विचार बहुत परेशान करता है— किस तरह कुष्ठरोगियों के मन में जीने की उमंग और उनके जीवन में खुशी लायी जाए। आखिर बाबा को ज्ञात हुआ कि मात्र ममता भरा, प्यार भरा स्पर्श ही इन मनुष्यों के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकता है। अतः इन मरीजों के विषय में सोचने की बाबा की संपूर्ण दृष्टि ही बदल गई।

इसमें से आनंदवन में मित्र मेला का विचार उन्होंने साकार किया। आनंदवन वासियों को जिस समाज ने बहिष्कृत करके दुतकारा था, उसी समाज को उन्होंने उनका पराक्रम, उनकी विविध कार्यों में कुशलता देखने के लिए निमंत्रित किया। उनमें विचारक, समाज सेवक, लेखक, देशभक्त, कृषि विज्ञानी आदि प्रसिद्ध हस्तियां थीं। सन् 1961 में आनंदवन में पहला मित्र मेला संपन्न हुआ।

इस प्रकार के मित्र मेले में कुष्ठरोगी छोटे-छोटे नाटकों के रूप में आयोजन करते। एक दिन भगवान कृष्ण पर आधारित एक नाटक में सुदर्शन चक्र का प्रसंग आ गया। कृष्ण की भूमिका निभाने वाले उस रोगी के हाथ में सुदर्शन चक्र घुमाने के लिए उंगली ही नहीं थी! ऐसे कई मार्मिक प्रसंग आते जिससे दिल में फफोले पड़ते, कलेजा छलनी होता। रोगियों के भगीरथ प्रयासों से सभी बाधाओं को पार कर उन्होंने एक नाटक मंचित करके राष्ट्रीय सुरक्षा निधि में दो हजार रुपयों का अंशदान भी दिया।

आनंदवन स्थित कुर्सी-मेज से लेकर पत्र लेखन सामग्री तक सभी वस्तुओं में कलात्मकता के दर्शन होते हैं। प्रेरणा बाबा की है पर मेहनत रोगियों की है। बाबा ने मनुष्य को ढूंढा, उसे देखा-परखा और मानवता के सुंदर शिल्प गढ़े। आनंदवन में गांधीजी जीवित हैं— क्योंकि यहां पर उनके सपने साकार हो गए हैं। यहां आत्मनिर्भरता है, सभी लोग बड़े प्यार से संयुक्त परिवार बनाकर रहते हैं। डॉ. विकास आमटे पत्रकारों को बताते हैं, “लोग कैंसर जैसे भयंकर रोग से घृणा नहीं करते परंतु कुछ लोग आज भी कुष्ठरोग से घृणा करते हैं। कुष्ठरोग कोई संक्रमक या छुतहा बीमारी नहीं है। हम तीन पीढ़ियों से इन लोगों के साथ रह रहे हैं। पर हममें से किसी को भी कुष्ठरोग नहीं हुआ।”

डॉ. विकास आमटे नए आनंदवन की देखभाल कर रहे हैं। बाबा की कार्य प्रणाली के अनुभवों के कारण उनके विचार सुलझे हुए और समृद्ध हो गए हैं। उनके विचार से रोगी इलाज के लिए टालमटोल करते हैं। इसलिए इलाज के साथ ही साथ रोगी की उमंग, उल्लास कायम रखना जरूरी है। रोगमुक्त होने के बाद उसे कार्य में शामिल कराने के लिए विविध उपाय करने पड़ते हैं। इस प्रकार

उन्होंने बाबा की प्रेरणा तथा प्रणाली को संस्था में कायम रखा है। उनका पूरा-पूरा विश्वास है कि आनंदवन का संघर्ष कुष्ठरोगियों को सामाजिक प्रतिष्ठा, सम्मान दिलाने का संघर्ष है।

अब आनंदवन की व्यवस्था का फैलाव विस्तार पा गया है। महारोगी सेवा समिति का इलाज के लिए लगभग 1500 बिस्तरों से सुसज्जित अस्पताल है। इसके अतिरिक्त बाह्य रोगी विभाग (ओ.पी.डी.) में रोज 500 से ज्यादा मरीज आते हैं। समिति द्वारा संचालित कला, विज्ञान, वाणिज्य एवं कृषि विद्यालय सुचारु ढंग से चल रहे हैं। आरंभकाल में ही स्थापित प्राथमिक पाठशालाओं के साथ-साथ नेत्रहीन-मूक-बधिर विद्यालय में भी अनेक छात्र हैं। वयस्कों के लिए 'उत्तरायण' का आयोजन किया गया है। स्नेह छाया में लगभग 200 बेसहारा वृद्ध रहते हैं।

डॉ. आमटे ने माड़ीया लोगों के बच्चों के लिए मराठी-माड़ीया शब्दकोश तैयार किया। उन बच्चों के लिए माड़ीया जीवन के प्रसंग, त्योहार, उत्सव, जंगल, प्राणी आदि सभी पर आधारित पाठ तैयार किए गए।

डॉ. प्रकाश आमटे ने अपने साथियों के साथ मिलकर हाथ में दवाई, आंखों में करुणा, हृदय में ममता-स्नेह तथा मन में निष्ठा समेटकर इस जंगल में अज्ञानता, रोग, बीमारी में जकड़े हुए आदिवासियों तक मीलों पैदल जाकर उनसे संपर्क साधा और उनके जीवन में रोशनी फैलाई।

इस कार्य में भी कुष्ठरोगियों के पराक्रम का साथ मिला। यह एक अपूर्व, अद्भुत यशोगाथा है।

यहां के कार्यकर्ताओं को आदिवासियों को पढ़ाने के लिए माड़ीया बोली सीखनी पड़ी क्योंकि वे मराठी भाषा नहीं समझते। माड़ीया बोली थोड़ी हिंदी, थोड़ी तेलुगु से मिलती-जुलती है। माड़ीया बोली तो है पर उसकी कोई लिपि नहीं है।

डॉ. आमटे ने माड़ीया लोगों के बच्चों के लिए मराठी-माड़ीया शब्दकोश तैयार किया। उन बच्चों के लिए माड़ीया जीवन के प्रसंग, त्योहार, उत्सव, जंगल, प्राणी आदि सभी पर आधारित पाठ तैयार किए गए।

सन् 1976 के स्कूल के बैच का एक छात्र, जिसका नाम कन्ना माडावी था, डॉक्टर बन गया है। एक छात्र मुंबई में दूसरे वर्ष में पढ़ रहा है। एक नागपुर मेडिकल कॉलेज में प्रथम वर्ष में पढ़ रहा है। एक दंत वैद्यक महाविद्यालय में पढ़ रहा है। तीस से अधिक लड़के अध्यापक, पच्चीस से अधिक पुलिस तथा जंगल सुरक्षाधिकारी के स्थान पर नौकरी कर रहे हैं।

लोकबिरादरी के सभी कार्यकर्ताओं ने यहां के जंगली जानवरों से उतना ही प्यार किया, जितना आदिवासियों से किया। इन जंगली पशुओं का शिकार करना, सिर्फ यही आदिवासियों का जीवन था। लोकबिरादरी परियोजना की शिक्षा ने, प्यार और सहानुभूति ने उनके उस जीवन को एक नई दिशा दिखाई। एक मृत बंदरिया के एक जीवित छोने को दस रुपयों में खरीद कर डॉ. प्रकाश आमटे ने चिड़ियाघर का श्रीगणेश किया।

बंदरिया के बच्चे से शुरू किए गए इस चिड़ियाघर में धीरे-धीरे बाघ, शेर जैसे खूंखार जानवर भी दाखिल हो गए। हेमलकसा का यह चिड़ियाघर आज सभी के आकर्षण का केंद्र बना हुआ है।

पहले माड़ीया स्वस्थ होने के लिए मुर्गे की बलि चढ़ाते थे। परंतु अब स्वस्थ होने के बाद वे डॉक्टर को कोई प्राणी, मातृहीन घायल पंछी उपहार स्वरूप देते हैं, जिससे यह चिड़ियाघर समृद्ध हो रहा है, आबाद हो रहा है। जंगल की कटाई और अन्य कारणों से संकटग्रस्त और भयभीत प्राणी अब न केवल यहां सुरक्षित हैं बल्कि उनकी उचित देखभाल भी की जाती है। इसी कारण डॉ. आमटे ने इसका 'प्राणियों का अनाथालय' सही ही नामकरण किया है।

छोटे प्राणी से लेकर शेर तक की शल्यक्रिया

करने का मामला क्यों न आ जाए, उसके लिए लोकबिरादरी समर्थ और सक्षम है।

'मेरी बीमारी ही मधुमास है, वसंत ऋतु है,' बाबा का यह वाक्य ही जैसे बाबा के रहस्यों का भेद खोलता है। युवावस्था में बाबा को व्यायाम और कुश्ती का शौक था। इसकी वजह से उनका शरीर पर्याप्त सुदृढ़ था। 1951 में आनंदवन की रचना हुई। उस समय उनका अपना तथा रोगी का शरीर, शारीरिक श्रम— यही बाबा की पूंजी थी। कुआं खोदने जैसा शारीरिक श्रम भी बाबा अपनी असीम मानसिक शक्ति के बलबूते पर निभा सके। परंतु शरीर से इतना अथक परिश्रम सहा नहीं गया। सन् 1964 से ही बाबा को रीढ़ की हड्डी के दर्द की बीमारी ने घेर लिया। पीठ का दर्द हृद से बढ़ता गया। उठना-बैठना भी असंभव होने लगा।

आखिर सन् 1974 को नवजात बिरादरी परियोजना डॉ. प्रकाश और मंदा को सौंप कर बाबा शल्यक्रिया कराने मुंबई आ गए। चार महीनों के बाद बाबा आनंदवन लौटे। उन्हें कमर के लिए एक चौड़ा-सा पट्टा और गले के लिए कालर

“लोग कैंसर जैसे भयंकर रोग से घृणा नहीं करते परंतु कुछ लोग आज भी कुष्ठरोग से घृणा करते हैं। कुष्ठरोग कोई संक्रमक या छुतहा बीमारी नहीं है। हम तीन पीढ़ियों से इन लोगों के साथ रह रहे हैं पर हममें से किसी को भी कुष्ठरोग नहीं हुआ।”

का प्रयोग करना पड़ा जो फिर हमेशा कायम रहा।

बाबा की बीमारियां असहनीय वेदनाओं की गाथा है। परंतु वह कभी बाबा की प्रबल, अद्भ्य इच्छाशक्ति के आड़े नहीं आई। उन्हें एक वर्ष विश्राम करने के लिए कहा गया था पर बाबा को तो मानो 'विश्राम' शब्द से परिचय ही न था। फिर डाक्टरी जांच करानी पड़ी। अब डॉक्टर ने 'बांबुस्पाईन' नामक मनकों के रोग का निर्णय दिया— या तो वे सीधे खड़े रह सकेंगे या उन्हें पूरी तरह से पीठ के बल पर लेटे रहना पड़ेगा। अब वे कभी बैठ ही नहीं सकते। बाबा ने फिर आनंदवन की एक गाड़ी में लेटने का प्रबंध करवाया।

बरसों से पीठ दर्द की बीमारी सहने के बावजूद बाबा लगातार चलते-फिरते रहते हैं और मानसिक रूप से बड़े सतर्क रहते हैं। बाबा का विचार है कि वेदना से नाता जोड़ने से वेदना कम होती है, पीड़ा सहने की क्षमता आती है। जिस समय कुष्ठरोगी समाज में तिरस्कृत अवस्था में जी रहा था, तब बाबा ने उसे सामाजिक प्रतिष्ठा दी, इज्जत दी। उसके हाथों को काम करना सिखाया और उसके जीवन को एक नया संदर्भ, नया अर्थ दिया। वे कुष्ठरोगियों से कहते, “जो अंग सड़-गल गए हैं उनके लिए दुख मत करो, जो अंग स्वस्थ हैं, सही सलामत हैं, उनकी सहायता से काम करना सीखो।” जिनकी तीन उंगलियां गल गई हैं, ऐसे रोगियों से वे कहते, “अरे, बाकी सात उंगलियों से काम करो।” उन्होंने रोगजर्जर शरीर में स्वस्थ रोगरहित मन तैयार किया। उन्होंने प्रत्येक रोगी से व्यक्तिगत प्रेम करते हुए उसे धीरज बंधाया। ऐसे लूले, लुंज-पुंज हाथों को जिनकी सारी उंगलियां सड़-गल गई हैं, काम करने की प्रेरणा दी।

बाबा शिष्य नहीं, उत्तराधिकारी चाहते हैं क्योंकि उत्तराधिकारी अधिक कुशलतापूर्वक, सक्षम होकर कार्यभार संभालते हैं। बाबा निरपेक्ष भाव से टीका-टिप्पणी, निंदा सहते हैं। उनका कहना है, “लोग उसी पेड़ पर पत्थर फेंकते हैं जिस पर खाने लायक फल लगते हैं।

नेशनल बुक ट्रस्ट से सन् 2000 में छपी पुस्तक 'बाबा आमटे' के कुछ संपादित अंश। मूल पुस्तक मराठी में थी। हिंदी अनुवाद श्री डॉ. हेमा जावडेकर ने किया है। इस पुस्तक की सात आवृत्तियां छप चुकी हैं।



टिप्पणियाँ

जापान की परम दुविधा

दुविधा में पड़े जापान से हम सबको कुछ सबक सीखना चाहिए। दुविधा का कारण यह है कि वह अपने 50 परमाणु संयंत्र को चलाए रखे या एक खास समय सीमा में इनसे छुटकारा पाए? फुकुशिमा की भयानक दुर्घटना के बाद इससे संबंधित मतों में बहुत ही तीखा अंतर नजर आ रहा है। जापान की सरकार परमाणु ऊर्जा पर देश की निर्भरता कम करने के कई नए प्रयास कर रही है। जापान वर्तमान में अपनी विद्युत का 30 प्रतिशत परमाणु ऊर्जा से प्राप्त करता है। ऐसे में आज इससे निजात पाना बेहद कठिन काम है।

जापान ने पिछले दिनों एक बेहद क्रांतिकारी ऊर्जा एवं पर्यावरण नीति जारी की है। इसके अनुसार सन् 2040 तक परमाणु ऊर्जा से छुटकारा पाने की बात कही गई है। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि अब नए परमाणु

संयंत्रों का निर्माण नहीं किया जाएगा। ऊर्जा संयंत्रों की आयु को 40 वर्ष तक सीमित किया जाएगा इनके लाईसेंस को किसी भी सूरत में दुबारा जारी नहीं किया जाएगा।

लेकिन पांच दिन बाद ही जापानी मंत्रीमंडल ने इस नई नीति को स्वीकृति देने से इंकार कर दिया। ठीक उसी दिन मंत्रीमंडल के एक वरिष्ठ मंत्री ने एक अस्पष्ट-सा बयान देते हुए कहा कि सरकार 'अभी भी' इसी नीति के आधार पर काम करेगी।

इससे यह प्रतीत हो रहा है कि सरकार दोहरी मानसिकता का शिकार हो गई है। उसके ऊपर परमाणु ऊर्जा के समर्थक और विरोधी दोनों पक्षों का भारी दबाव पड़ रहा है। पिछले कई महीनों से प्रधानमंत्री के घर, दफ्तर के बाहर परमाणु ऊर्जा विरोधी प्रदर्शन होते रहे हैं। फिर खुद प्रधानमंत्री ने इन प्रदर्शनकारियों के एक समूह से अपने कार्यालय में भेंट की। इसे समूह ने

अपनी 'विजय' बताया। इसी बीच जापान की औद्योगिक फेडरेशन कीडारेन ने इस परमाणु कार्यक्रम को 'अवास्तविक' और पहुंच से दूर बताया। लेकिन वर्तमान में नीतियों को लेकर चल रही दुलमुल नीति से कोई भी प्रसन्न नहीं है।

जापान के दो सर्वाधिक लोकप्रिय समाचार पत्रों में से एक आशी शिंबुन द्वारा किए एक सर्वेक्षण से यह बात सामने आई है कि फुकुशिमा संयंत्र दुर्घटना के पश्चात सरकार द्वारा उठाए गए सुरक्षा प्रयासों से दो तिहाई जनता संतुष्ट नहीं है। केवल एक चौथाई लोग ही अगस्त में उठाई गई पहल से संतुष्ट थे। उनमें से अधिकांश को ऐसा लगता था कि परमाणु ऊर्जा के बदले पवन और सौर ऊर्जा को अब ज्यादा बढ़ावा मिलना चाहिए।

लेकिन केवल सार्वजनिक मत ही सरकार को प्रभावित नहीं करता। उसे तो किसी भी निर्णय को लेने से पहले अनेक अन्य बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है। इसमें ऊर्जा के अन्य प्रकारों की ओर बढ़ने से पहले उसे अपनी विदेश नीति भी देखनी है। अमेरिका जापान का निकटस्थ व्यापारिक साझेदार है। उसके हित परमाणु ऊर्जा से जुड़े हैं। फिर इसके साथ परमाणु कचरे का निपटान भी जुड़ा है। यह काम अधिकांशतः फ्रांस और ब्रिटेन जैसे विदेशी देशों में ही होता है।

इन सब देशों के आर्थिक, व्यावसायिक हित भी ऐसे किसी भी निर्णय से प्रभावित होंगे तो इन देशों की नाराजगी भी मोल लेनी पड़ेगी। कोई 45 हजार व्यक्ति परमाणु उद्योग में रोजगार पाते हैं। इन बिजलीघरों को बंद करने से पहले इन लोगों के भविष्य के बारे में भी सरकार को सोचना पड़ेगा। फिर अंतिम बात यह भी है कि कोयले से बनने वाली बिजली धुंआ छोड़ती है। उससे दुनिया में 'कार्बन' को लेकर बड़ी चिंता है। परमाणु बिजली घर उससे मुक्त बताए जाते रहे हैं। सो उस 'गुण' का भी ध्यान रखना है।

परमाणु उस बुरी लत की तरह है, जिससे छुटकारा पाना कठिन है। परमाणु संयंत्रों को बंद कर देने का अर्थ परमाणु शून्यता नहीं है। इस संबंध में जापान को उच्च क्षमता वाले परमाणु अपशिष्ट से दो-चार होना पड़ेगा। इसे भावी पीढ़ी के लिए असीमित संसाधन के रूप में देखा जा रहा था। अखबारों में छपी रिपोर्टों के अनुसार जापान में 45 टन से अधिक प्लूटोनियम का भंडार है। इससे कोई 5000 परमाणु मिसाइलें बनाई जा सकती हैं। जापान में स्थित अधिकांश परमाणु बिजलीघर हल्के पानी पर चलते हैं। उन्हीं में से यह भंडार बचता है, या निकलता है। इसका एक बड़ा हिस्सा फ्रांस और ब्रिटेन में रखा जा रहा है।

जापान द्वारा परमाणु ऊर्जा क्षेत्र से निकासी के निश्चय के बाद इस बात में शंका है कि ये दोनों देश इस अत्यंत जहरीले पदार्थ को अपने यहां रख पाएंगे क्या। ऐसे समाचार भी आए हैं कि शून्य परमाणु नीति की घोषणा के बाद जापान में ब्रिटेन के राजदूत सर डेविड वाटन ने मुख्य केबिनेट सचिव ओसामु फुजिमुरा से यह आश्वासन लेने के लिए मुलाकात की कि जापान उनकी धरती से परमाणु कचरे के कंटेनर वापस बुला लेगा। फ्रांस भी इसी तरह का अनुरोध करने का मन बना रहा है।

यदि इन्हें वापस कर दिया जाता है तो फिर यह भयानक जहरीला कचरा कहां जाएगा? वर्तमान में जापान में ओमोरी प्रीफेक्चर के पास अस्थायी तौर पर परमाणु कचरे का भंडार जमा किया जा रहा है। लेकिन ऐसा हमेशा के लिए संभव नहीं है। परमाणु के विरुद्ध बढ़ते प्रतिरोध के कारण जापान में इससे संबंधित और अधिक सुविधाओं के निर्माण की अनुमति शायद ही मिल पाए। सरकार से मिल भी जाए, लोग तो इसे स्वीकार करने से रहे।

जापान की दुविधा यही समाप्त नहीं होती। सरकार का अनुमान है कि ऊर्जा के नए तरीकों, पवन, सौर बिजली को बनाने और इनके आसपास ग्रिड के निर्माण के लिए 622 अरब अमेरिकी डॉलर की आवश्यकता पड़ेगी। रातों रात इतनी बड़ी रकम की व्यवस्था नहीं हो सकती। फुकुशिमा परमाणु संयंत्र के बंद हो जाने के बाद जापान अमेरिका से गैस मंगवा रहा है। इस नए आयात पर जापान की निर्भरता बहुत बढ़ गई है। उसके गैस आयात में 20 प्रतिशत की वृद्धि हो चुकी है। पेट्रोल, डीजल पर निर्भरता बढ़ती ही जा रही है। उधर जापान ने अपने हिस्से के कार्बन को 25 प्रतिशत कम करने का वायदा किया था। यह सब इस दुविधा में कैसे सध सकेगा— उसे भी पता नहीं है।

परमाणु ऊर्जा छोड़े तो मुसीबत, न छोड़े तो और बड़ी मुसीबत— यह दुविधा आसानी से हल होते दिखती नहीं। तो क्या जापान का परमाणु संकट कभी खत्म होगा? परमाणु ऊर्जा के क्षय से क्या कोई सबक सीखा जाएगा?

अरनब प्रतिम दत्त



पत्र

मार्च-अप्रैल 2013 के अंक में श्री ब्रजमोहन पांडे का पत्र पढ़कर हमें बहुत अच्छा लगा। आश्चर्य भी हुआ। आश्चर्य इसलिए कि हम लोग उस दिन वहां थे। सन् 1980 में फतेहपुर सीकरी में सुलहकुल की चार सौवीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर इंदिराजी का भाषण सुनने का सौभाग्य हमें भी मिला था। पर उसके पीछे के इस किस्से से हम परिचित नहीं थे। पच्चासी वर्षीय श्री दीन दयाल पाराशर हमारे मित्र हैं, उन्हें भी मैंने यह सब बताया। वे भी वहां थे उस दिन। हम ब्रजमोहनजी के सदा आभारी रहेंगे, अपनी धरोहरों की रक्षा के लिए।

खुशालसिंह कोली,
32, कीली खाना, फतेहपुर सीकरी,
आगरा, उत्तर प्रदेश।

*

गांधी-मार्ग से बहुत कुछ मिलता है। पढ़ता हूं। कई बार कुछ लिखने को मन भी करता है किंतु नकारात्मक न हो जाए, डरता हूं। हर प्रश्न पर हम यूरोप और अमेरिका की सहायता करने क्यों चले जाते हैं?

नवल जायसवाल,
प्रेमन, बी-201, सर्वधर्म, कोलार रोड,
भोपाल- 462042 म.प्र.

*

गांधी-मार्ग का जनवरी-फरवरी अंक। हरेक अंक की तरह यह भी संग्रहणीय। यह पत्रिका सदाचार और सात्विकता की अमोघ कुंजी है। इसे घुमाने पर हमारे जीवन में शील-सदाचार- सादगी-अपरिग्रह, कर्तव्य

परायणता, परदुख कातरता आदि मानवीय मूल्यों के अवरुद्ध प्रायः द्वार सहज ही खुलते हैं और हम ज्यों-ज्यों इसके पन्नों से होकर गुजरते हैं, हमारे अंतस् में अपूर्व सद्भाव और शांति प्रतिष्ठापित होती है।

मुझे परम आश्चर्य है, साथ ही परम संतुष्टि भी कि आज के पूर्णतः बाजारू और व्यावसायिक दौर में भी, जहां अन्य सभी पत्रिकाएं पाठकों का मन मोहने के लिए सस्ते हथकंडे अपना रही हैं, गांधी-मार्ग महात्मा गांधी और विनोबाजी के जीवन-सिद्धांतों से राई-रत्ती भर भी हटने को तैयार नहीं। पत्रिका की यह अडिगता ही हमारी अटूट श्रद्धा की संवाहक है।

मैं इस पत्रिका के सारगर्भित लघु आकार, उत्तम पेपर-क्वालिटी, उत्कृष्ट छपाई, सादगी परंतु सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा आदि पहलुओं का भी जबरदस्त प्रशंसक हूं।

इस अंक में 'वाइकोम: सड़क से गुजरा सत्य' हमें अस्पृश्यता और अनुपगम्यता की विडंबना से जूझते गांधीजी के व्यावहारिक दृष्टिकोण का साक्षात्कार कराता है। गांधीजी वाइकोम के लोगों की तारीफ के साथ अपनी बात शुरू करते हैं लेकिन किस चतुराई से वहां के लोगों को तमाम प्रशंसाओं के बीच भी उनमें व्याप्त बुराईयों का दर्शन करा देते हैं।

मरण हमारा जन्मसिद्ध अधिकार लेख बहुत विशिष्ट है। काका कालेलकर जी की लेखनी ने मरणोत्तर जीवन, साम्पराय, आत्मौपम्य आदि गूढ़ विषयों को अत्यंत सुग्राह्य रूप में अभिव्यक्त किया है। इस लेख को पढ़ते हुए

कबीर की यह पंक्ति छापी रही— जिस मरने से जग डरै, वह मेरे आनंद!

राजगोपाल पी.वी. ने खुफिया तंत्र और खुला काम लेख में नक्सल व आदिवासी क्षेत्रों में कार्यरत सामाजिक कार्यकर्ताओं का खुफिया विभाग के हाथों उत्पीड़न सामने रखा है। इसमें पाठकों के सामने खुफिया विभाग, अधिकारी, नेता आदि की परस्पर दुरभिसंधि उजागर होती है।

देवास पसीने से उठा जलस्तर लेख में हमें आसन्न भयावह जल संकट का निदान तालाब और पोखरों में दिखा। तालाब कल भी खरे थे, आज भी खरे हैं और आगे भी खरे ही रहेंगे। इस लेख में नलकूपों के भावी दुष्परिणाम के विषय में कृषक रघुनाथ सिंह तोमर के हवाले से उचित ही आगाह किया है: “किसी से दुश्मनी निकाली हो तो उसके यहां नलकूप लगवा दो। उसकी जमीन खराब हो जाएगी।”

तिब्बत: आत्मदाह का ताप में राधा भट्ट जी ने अत्यंत प्रभावशाली अपील की है। उनकी लेखनी ने पाठकों को पहली बार उस संत्रास का अहसास कराया है जिसको धरती के उस भू-भाग पर रह रहे लोग न जाने कब से झेल रहे हैं। क्या विश्व बिरादरी इसका संज्ञान लेकर चीन की निर्ममता, संवेदनहीनता का विरोध करेगी? हमें तो पूरा भरोसा है कि राधा बहन के ये शब्द अकारण नहीं जाएंगे।

‘इल्लिजा’ में जाबिर हुसेन साहब ने पेड़ों के संवेदन से पाठकों की रूह को जोड़ा है। काश और लोगों का जमीर भी ऐसे ही जगा होता।

टिप्पणियां स्तंभ में ललित सुरजन जी ने हमारी पीढ़ी का संभ्रम और उहापोह सामने रखा है। लेखक ने उचित ही कहा है कि

समाजवाद बनाम पूंजीवाद, मुक्त बाजार बनाम नियंत्रित बाजार, सार्वजनिक बनाम निजी उपक्रम, केंद्रीकरण बनाम विकेंद्रीकरण हिंदी बनाम अंग्रेजी आदि मुद्दों पर पूर्णतः द्विविधा की स्थिति है। विडंबना यह भी है कि हमारे युग का नागरिक इस संभ्रम की स्थिति से निकलकर कोई सम्यक समाधान भी नहीं खोज पा रहा है। वह, बकौल ललित सुरजन जी, एक आत्म केंद्रित नागरिक है और सीधी लकीर में सिर्फ उतनी दूर तक देखता है, जहां तक उसे अनिवार्यता महसूस होती है।

हम युगीन समस्याओं के स्थाई समाधान गंभीरतापूर्वक खोज भी नहीं रहे हैं सिर्फ समस्याओं के तात्कालिक हल चाहते हैं, फौरी समाधान चाहते हैं। मसलन सिंचाई के लिए तालाब बनाने की बजाए नलकूप डाल देते हैं। पैदावार बढ़ाने के लिए खेतों में प्राकृतिक, गोबर की खाद के बजाए रासायनिक खाद प्रयुक्त करते हैं, इससे भले ही भूमि बंजर हो जाए। मल-निष्कासन, नाले, गंदा पानी आदि हमने गंगा और यमुना में छोड़ ही रखे हैं।

गांधी-मार्ग पाठक को दूरगामी दुष्परिणामों के प्रति आगाह भी करता है तथा साथ ही हमारी युगीन समस्याओं के स्तरीय, स्थाई और प्राकृतिक समाधान भी सुझाता है। अपने युग की चुनौतियों, समस्याओं के प्रति जागरूक रहकर यथोचित कार्यवाही करना हरेक नागरिक का धर्म है, अन्यथा हमारी तटस्थता, रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में अक्षम्य अपराध ही होगी।

“समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध, जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।”

मुकेश कुमार निर्विकार,

2/29, डी.एम.कॉलोनी, बुलंदशहर-203001 उ.प्र.



Civil Society

US. WE READ YOU.

**SUBSCRIBE
AND
GET YOUR
COPY AT
YOUR HOME
EVERY MONTH**

1year ₹ 600

2year ₹ 950

3year ₹ 1,300

RATE FOR INSTITUTIONS

₹ 1,000
for 1 year

Name:

Address:

State: Pin co

Country:

Phone:

Mobile:

E-mail:

Cheque to: CONTENT SERVICES & PUBLISHING PVT. LTD.

Mail it to: The Publisher, Civil Society, E-2144, Palam Vihar, Gurgaon, Haryana-122017.

Mail to: response@civilsocietyonline.com Website: civilsocietyonline.com. Phone: 09811787772, 011-4600

SUBSCRIBE NOW!

BECAUSE EVERYONE IS SOMEONE



अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस 8 मार्च

विश्व प्रगतिशील और समतापूर्ण महिलाओं के लिए।

दिवस। लक्ष्य है। कल्याण की कमान बंद की

उनके संस्कार करने चाहिए।

वे रिश्तों की दुनिया बनाती हैं

महिलाएं अपने आप में ही समाज की पाव हैं।

उनके बनाने से ही

समाज और संस्यताएं बनती हैं।

उनके टपने से ही महिला बनता है।

वही ही समाज का एक हिस्सा है।

उनका होना सुननाकारण का, समाजों का और आशाओं का होना है।



शक्ति को
सुनना

मध्यप्रदेश

अनसूया बहन मजदूर परिवार से नहीं, साराभाई, यानी मालिक परिवार से थीं। मालिक परिवार, मिलों के स्वामी परिवार से होकर भी उन्होंने अपनी ही मिलों में काम कर रहे मजदूरों का सौ प्रतिशत पक्ष लिया और उनके हित में काम करने के लिए अपना जीवन च्योछावर कर दिया।

